कागज और छपाई की लागत से इस पुस्तक का

मूल्य ।) चार आना है

लेकिन

भीनासर (बीकानेर) निवासी

श्रीमान् रामकरणजी बाँठिया की मातेश्वरी

की ओर से

तीन चौथाई मूल्य (तीन आने) में

भेंट !

अध्याय सूची

दो शब्द

श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री १००८ श्री जवाहिरलालजी महाराज के व्याख्यानों में से सम्पादित सती राजमती की शास्त्र प्रसिद्ध कथा, 'व्याख्यानसार संग्रह पुस्तक माला' का ११ वाँ पुष्प है। इससे पहले १० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। जनता ने उन पुस्तकों को इतना अपनाया, कि हमें कई पुस्तकों के तीन-तीन और चार-चार संस्करण निकालने पड़े हैं। जनता की यह अभिरुचि, हमारे उत्साह को बढ़ाने वाली हुई, और इसी कारण हम यह पुस्तक जनता की सेवा में रखने का साहस कर सके।

सती राजमती की कथा को जैन शास्त्रों में बहुत ही उच्च स्थान प्राप्त है। वास्तव में इस कथा द्वारा जो आदर्श उपस्थित किया गया है वह अपनी श्रेणी का एक ही है। यों तो जैनसाहित्य में, इस विषय के गद्य और पद्य में अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं परन्तु चरितानुवाद जैसा सरल है वैसा जटिल भी है। इसके द्वारा वक्ता या लेखक जनता का उत्थान भी कर सकता है और पतन भी, इसलिये उपदेशक या, लेखक बनने से पहले अपनी जवाबदारी को समझ लेना अत्यावश्यक है।

श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री १००८ श्री जवाहिरलालजी महाराज इस जवाबदारी को खूब समझते हैं आप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विशेषज्ञ हैं। वर्तमानकालीन जनता जो प्रायः स्वार्थभावना

और विषयों की गुलामी में ओतप्रोत होकर अपना भान भूल रही है, पति-पत्नी का सम्बन्ध भी केवल स्वार्थपूर्ति तक ही सीमित कर रखा है, उन्हें यह कथा वास्तविक प्रेम का बोध देकर आत्मोत्थान में भी मार्ग दर्शक होगा।

प्रकाशित की जाने से पहले यह पुस्तक अखिल भारतीय श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स आफिस, बम्बई को भेजी जा कर, वहाँ से प्रमाणित करा ली गई है, और साहित्य निरीक्षक समिति के विद्वान् सदस्यों विशेषतः श्रीमान् सेठ भैरोंदानजी सेठिया बीकानेर की ओर से जो सूचना प्राप्त हुई, उसके अनुसार पुस्तक का संशोधन करने के पश्चात् ही पुस्तक प्रकाशित की गई है। फिर भी यदि कोई त्रुटि रह गई हो, तो पाठकों की ओर से सूचना मिलने पर, हम उस सूचना पर विचार करने के लिए सदैव तैयार हैं।

छपाई और कागज की लागत के हिसाब से इस पुस्तक का मूल्य ।) चार आना है, लेकिन भीनासर निवासी श्रीमान् सेठ रामकरणजी बांठिया की मातेश्वरी ने १००) रु० प्रदान करके धर्म और साहित्य के प्रचार की दृष्टि से इस पुस्तक की एक चौथाई कीमत कम करवा दी है। हम उक्त सज्जन की इस अनुकरणीय उदारता की हृदय से सराहना करते हैं और आशा करते हैं, कि अन्य उदार सज्जन श्री पूज्य श्री के व्याख्यानों में से प्रकाशित पुस्तकों को अल्प मूल्य में जनता तक पहुँचाने और इस प्रकार जैनधर्म एवं जैन साहित्य का प्रचार करने का लाभ लेंगे।

रतलाम—	भवदीय—	
बैशाखी पूर्णिमा	बालचंद श्रीश्रीमाल	वर्द्धमान पीतलिया
सं० १९९३ वि०	सैक्रेटरी	प्रेसीडेण्ट

कथारम्भ

भारत के किसी भी व्यक्ति को, यदुवन्श का परिचय देना अनावश्यक है। यदुवन्श, स्वयं ही सुख्यात है। वैसे तो यदुकुल पहले से ही सुप्रसिद्ध था, लेकिन भगवान श्री अरिष्टनेमि औ[illegible]राजा श्रीकृष्ण का जन्म इस कुल में होने से इसका गौरव अत्यधिक बढ़ गया था। अपने वचन की रक्षा के लिए, अपनी सन्तान को दुष्ट स्वभावी कंस के हाथ में मारी जाने के लिए सौंपनेवाले, सत्यवादी महाराजा वसुदेव का जन्म भी इसी कुल में हुआ था। त्रिलोक में सर्वोत्तम और अद्वितीय माता मानी जानेवाली महारानी देवकी ऐसी पतिव्रता और पति परायणा स्त्री-रत्न ने भी, यदुकुल में ही जन्म लिया था। ठीक युवा-वस्था में और विवाह की तैयारी के समय, इस विनाशी संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेनेवाले, तथा मस्तक पर आग जलती होने

पर भी, धैर्य न त्याग कर अनुपम क्षमा का परिचय देनेवाले, एवं जिस दिन दीक्षा ली, उसी दिन मोक्ष प्राप्त करनेवाले, मुनि श्री गजसुकुमार ने भी इसी कुल में जन्म लेकर, इसे गौरवान्वित किया था। यदुकुल की ख्याति के इन सब कारणों के सिवा एक कारण, उसकी अत्यधिक वृद्धि तथा विनाश भी है। जन संख्या में, यदु-कुल जैसा बढ़ा हुआ था, कोई दूसरा कुल उस समय वैसा बढ़ा हुआ था, इसका वर्णन कहीं नहीं पाया जाता। साथ ही, ऐसा बढ़ा हुआ कुल जिस प्रकार विनष्ट हुआ, उस तरह कोई दूसरा कुल शायद ही विनष्ट हुआ हो। इन सब कारणों से यदुकुल का नाम आज भी सब लोग जानते हैं; और इसलिए यदुकुल का अधिक परिचय देना अनावश्यक है।

इसी यदुवंश में, अन्धकवृष्णि और भोजवृष्णि नाम के दो प्रतापी राजा हुए। अन्धकवृष्णि शौरिपुर में राज्य करते थे, और भोजवृष्णि, मथुरा में। मथुरा में राज्य करने वाले महाराजा भोज-वृष्णि के, उग्रसेन नाम के एक पुत्र थे और शौरिपुर में राज्य करने वाले महाराजा अन्धकवृष्णि के समुद्रविजय, वसुदेव प्रभृति दस पुत्र थे, जो दस दशार्ह के नाम से प्रसिद्ध थे। महाराजा भोजवृष्णि के एक भाई, मृत्तिकावती नाम की नगरी में रहते थे, जिनका उत्तराधिकारी उन्हीं का पुत्र देवक नाम का राजा था। इन्हीं देवक राजा की कन्या का नाम देवकी था, जो महाराजा वसु-

देव को विवाही गई थी, और जिसकी कोंख से कंस-निहन्ता महाराजा श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था।

वसुदेवादि दस दशार्ह में, सब से बड़े महाराजा समुद्रविजय थे। महाराजा समुद्रविजय की रानी का नाम, शिवादेवी था। महारानी देवकी की ही भांति महारानी शिवादेवी भी, पतिव्रता और पतिपरायणा थीं। इस कथा के नायक भगवान अरिष्टनेमि को, इन्हीं महारानी शिवादेवी ने जन्म दिया था। जिस समय श्रीकृष्ण द्वारा कंस का संहार हुआ था, और समुद्रविजय प्रभृति यादवों सहित श्रीकृष्ण, द्वारका में आकर रहने लगे थे, तथा वहां अपना राज्य स्थापित किया था, उस समय भगवान अरिष्टनेमि की अवस्था लगभग आठ वर्ष की थी। अपने माता पिता आदि के साथ ही भगवान अरिष्टनेमि भी, द्वारका में ही रहते थे।*

---

* श्रीकृष्ण प्रभृति समस्त यादव, एक भविष्य भाषी के कहने पर, जरासन्ध की सेना से बचने के लिए ही द्वारका में आकर बसे थे। जरासन्ध के कोप का कारण था, कृष्ण द्वारा जरासन्ध के जामाता कंस का संहार। कंस के मरने के पश्चात् मथुरा का राज्य श्रीकृष्ण ने उग्रसेन को दिया था, इसलिए उग्रसेन पर भी जरासन्ध की वक्रदृष्टि होना सम्भव था, और हो सकता है, कि इस कारण कृष्णादि के साथ उग्रसेन भी, मथुरा त्याग कर द्वारका में रहने लगे हों। कृष्ण के साथ उग्रसेन भी द्वारका में रहने लगे थे, या वे मथुरा में ही रहते थे, इस विषय का अनुसन्धान

कंस के मारे जाने के पश्चात, महाराजा उग्रसेन के यहाँ, एक कन्या का जन्म हुआ था; जिसका नाम राजमती था। राजमती, अत्यधिक सुन्दरी थी। उसके रूप-लावण्य का वर्णन करते हुए गणधरों ने भी उसके लिए 'मणिप्रभा और विद्युच्छटा' की उपमा दी है। सुन्दरी होने के साथ ही राजमती, गुणवती, सुलक्षणा और बुद्धिमती भी थी। उसकी शारीरिक रचना, आकृति, बुद्धि और उसके गुण तथा स्वभाव से लोगों को पुण्योपार्जन की शिक्षा मिलती थी। राजमती को देखनेवाले यही कहते थे, कि इसको जैसी ऋद्धि प्राप्त है, वैसी ऋद्धि, अत्यधिक पुण्य-सम्पदा के बिना कदापि नहीं मिल सकती। यही राजमती, प्रस्तुत कथा की नायिका है।

राजमती विवाह योग्य हुई। उसके अंग प्रत्यंग यौवन के आगमन से विकसित होने लगे। उसका रूप लावण्य, कमलपुष्प के समान खिलने लगा। राजमती के माता-पिता, राजमती के अनुरूप वर की खोज में रहने लगे, लेकिन अनुपम सुन्दरी राजमती के योग्य वर उनकी दृष्टि में न आया। राजमती के योग्य वर यदि उन्हें दिखता था, तो केवल भगवान अरिष्टनेमि ही। जिस

करने के लिए कई ग्रन्थ, शास्त्र और उनकी टीकाएँ देखी गईं परन्तु कहीं भी कोई स्पष्टीकरण दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसलिए 'केवली जानें' कह कर ही सन्तोष करना पड़ता है। कथा के अनेक भाग से तो यही मालूम होता है, कि उग्रसेन भी उस समय द्वारका में ही रहते थे।

प्रकार समकालीन कन्याओं में राजमती अप्रतिम सुन्दरी थी, उसी प्रकार भगवान अरिष्टनेमि भी अप्रतिम सुन्दर थे। भगवान तीर्थंकर की शारीरिक सुन्दरता के विषय में तो आचार्य मानतुङ्ग का यह कथन बता देना ही पर्याप्त है, कि जिन पुद्गलों से भगवान का शरीर बना था, वे संसार में सब से उत्कृष्ट थे और वे पुद्गल उतने ही थे। भगवान अरिष्टनेमि का बल भी अतुलनीय था। संसार में और किसी का बल ऐसा न था, कि जो भगवान अरिष्टनेमि के बल की तुलना में ठहर सके। वैभव की दृष्टि से भी भगवान अरिष्टनेमि, तीन खण्ड पृथ्वी के स्वामी कृष्ण के भाई ही थे और परिवार भी बहुत बढ़ा हुआ था। इस प्रकार राजमती के योग्य वर, भगवान अरिष्टनेमि के सिवा और कोई न दिखता था। राजमती के हृदय में भी, भगवान अरिष्टनेमि के प्रति अनुराग था। राजमती में, भगवान अरिष्टनेमि के प्रति अनुराग होने का मुख्य कारण, इन दोनों के पूर्वभव का संस्कार ही था। इसके सिवा समय-समय पर भगवान अरिष्टनेमि की प्रशंसा सुनने आदि से भी, राजमती में भगवान अरिष्टनेमि के प्रति अनुराग बढ़ा था, लेकिन यह अनुराग अप्रकट था। भगवान अरिष्टनेमि के प्रेम का अंकुर, राजमती के हृदय के एक कोने में दबा पड़ा था।

यद्यपि राजमती के माता-पिता, राजमती के लिए भगवान अरिष्टनेमि को सर्वोत्कृष्ट वर मानते थे, और इन दोनों का विवाह-

सम्बन्ध जुड़ने में और किसी प्रकार की वाधा भी न थी, परन्तु भगवान अरिष्टनेमि, विवाह करना स्वीकार नहीं करते हैं, यह जान कर वे, इस विषय में किसी प्रकार का प्रयत्न व्यर्थ समझते थे; और राजमती के अनुरूप दूसरा कोई वर दिखाई नहीं देता था। यही कारण था, कि विवाह के योग्य होने पर भी राजमती, अविवाहिता ही थी। वैसे तो रूप-लावण्य के कारण राजमती प्रसिद्ध हो चुकी थी, अनेक राजा और राजकुमार, राजमती का पाणिग्रहण करने को लालायित थे, लेकिन वे स्वयं को राजमती के योग्य नहीं समझते थे। किसी को यह विश्वास ही न था, कि हम राजमती के योग्य मान लिए जावेंगे, और राजमती के लिए हमारा विवाह-प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जावेगा। इस कारण किसी भी राजा या राज-कुमार का यह साहस न होता था, कि वह राजमती की याचना करे।

इधर तो राजमती के माता-पिता इस बात के लिए चिन्तित थे, कि भगवान अरिष्टनेमि के सिवा राजमती के योग्य वर दिखाई नहीं देता, और भगवान अरिष्टनेमि विवाह करना स्वीकार नहीं करते, अतः राजमती का विवाह किसके साथ किया जावे ! क्या राजमती कुमारी ही रहेगी, या उसका विवाह किसी अननुरूप वर के साथ करना होगा ! राजमती के माता-पिता को, इस प्रकार राज-मती के विवाह की चिन्ता थी और उधर भगवान अरिष्टनेमि के माता-पिता को यह विचार हो रहा था, कि हमारे पुत्र अरिष्टनेमि

पूर्ण युवक हो गये हैं; फिर भी, उन्होंने अब तक विवाह करने की स्वीकृति नहीं दी और उनका विवाहोत्सव देखने की हमारी अभिलाषा, अब तक अपूर्ण ही है। सन्तान की स्वीकृति के बिना—उसकी इच्छा के प्रतिकूल—उसका विवाह करने की चेष्टा अन्याय है और अरिष्टनेमि इस विषयक बात-चीत को सदा ही टाल दिया करते हैं। ऐसी दशा में, हमारी अभिलाषा पूरी हो तो कैसे !

भगवान अरिष्टनेमि के माता-पिता, एक दिन, पुत्र का विवाहोत्सव देखने की अभिलाषा से प्रेरित होकर, भगवान से विवाह की स्वीकृति देने का अत्यधिक अनुरोध करने लगे। वे, भगवान से कहने लगे—वत्स, आप अब बालक नहीं हैं, किन्तु युवक हैं। इस श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेने पर भी, आपका अब तक अविवाहित रहना, ठीक नहीं है। आपके अविवाहित रहने से, लोग यदुकुल पर, या आपके व्यक्तित्व के विषय में, न जाने क्या-क्या कहते होंगे। अविवाहित युवक, अविश्वस्त माना जाता है। स्त्री-रहित युवक पर, अनेक प्रकार के सन्देह होना स्वाभाविक है। इसके सिवा, आपका विवाहोत्सव देखने की, हमारी प्रबल अभिलाषा भी है। हम, आपके द्वारा अनेक सुखों का स्वप्न देख रहे हैं; जिनकी सफलता का आधार, आपका विवाह ही है। अतः हम आपसे आग्रह करते हैं, कि आप विवाह करना स्वीकार करें, जिसमें, निर्मल यदुकुल पर किसी प्रकार का अपवाद भी न आवे, आपका विवाहोत्सव देखकर, हमारे

नेत्र भी तृप्त हों, हमें अपना भविष्य सुखमय दिखाई दे, हम पौत्रादि का आनन्द ले सकें और स्वजनों को भी प्रसन्नता हो।

माता-पिता की बात सुनकर, भगवान, सहज रीति से मुस्कराये और माता-पिता से कहने लगे, कि-श्रद्धेय माता पिता, आप मुझ से विवाह करने का, इतना अधिक अनुरोध व्यर्थ ही करते हैं। विवाह न करने और ब्रह्मचर्य पालन करने से, यदुकुल पर किसी प्रकार का लाञ्छन लगे, यह कैसे सम्भव है ! इसीप्रकार, अविवाहित परन्तु ब्रह्मचारी पर, अविश्वास करने का भी कोई कारण नहीं है। अविश्वास तो तब होना चाहिये, जब दुराचारी हो। कदाचित्, दुराचार की कोई बात दृष्टि में न आने पर भी कोई व्यक्ति, किसी ब्रह्मचारी का विश्वास नहीं करता है, तो इसमें ब्रह्मचर्य पालने वाले की क्या हानि है ? कोई अविश्वास करता है, तो करे ! अविश्वास के भय से, ब्रह्मचर्य त्याग कर विवाह करना तो कदापि उचित नहीं हो सकता। रही आपकी और स्वजनों की प्रसन्नता की बात; लेकिन क्या उनको व आपको, विवाहोत्सव देखकर ही प्रसन्नता हो सकती है, ब्रह्मचर्य देखकर प्रसन्नता नहीं हो सकती ! यदि आप लोगों को, ब्रह्मचर्य देखकर प्रसन्नता न हो, विवाहोत्सव देखकर ही प्रसन्नता हो, तो इसका अर्थ तो यह हुआ, कि ब्रह्मचर्य बुरा और विवाह अच्छा है। लेकिन मैं, इस विचार को ठीक नहीं समझता। मेरी दृष्टि में तो, ब्रह्मचर्य-पूर्ण जीवन ही सर्वोत्तम है। जब ब्रह्मचर्य-पूर्ण जीवन

व्यतीत करने की शक्ति न हो, उस दशा में विवाह करना दूसरी बात है, लेकिन इस शक्ति के होते हुए भी, केवल उक्त कारणों से विवाह करना, कदापि उचित नहीं हो सकता। मैं, अपने में पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन की शक्ति समझता हूँ, इसलिए, विवाह करना आवश्यक नहीं समझता। जब मैं अपने में ऐसी शक्ति न समझूँगा, तब मेरे लिए, विवाह करने के सिवा कोई मार्ग न रहेगा; लेकिन इस समय मैं, अपने लिए विवाह करने का अवसर नहीं समझता। इसलिए, आपसे मैं प्रार्थना करता हूँ, कि आप मुझे ब्रह्मचर्य पालने के लिए प्रोत्साहित करते रहिये, विवाह करने का अनुरोध मत करिये।

भगवान का उत्तर सुनकर, उनके माता-पिता फिर कहने लगे कि—प्रिय पुत्र, जब आप गर्भ में थे, उस समय के चौदह महास्वप्न और आपका जन्म-कल्याण-महोत्सव देख कर, हम यह जान चुके हैं, कि आप चरमशरीरी तीर्थंकर हैं, आपके सहारे संसार के असंख्य जीव, जन्म-मरण से छुटकारा दिलानेवाले धर्म के मार्ग पर आरूढ़ होंगे, इसलिए आपमें ब्रह्मचर्य पालने की क्षमता हो इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, न हम ब्रह्मचर्य-पूर्ण जीवन को अनुचित ही समझते हैं; परन्तु आपसे पूर्व जितने तीर्थंकर हुए हैं, उन्होंने भी तो, आपकी तरह ब्रह्मचर्य पालन की क्षमता होते हुए विवाह किया था और संसारिक भोगोपभोग भोगे थे!

फिर आप विवाह करें, इसमें क्या बुराई हो सकती है? कदाचित् आपकी दृष्टि में विवाह करना अनावश्यक हो, तब भी, आपको वह कार्य करना उचित है, जिससे हम लोगों को प्रसन्नता हो।

स्वाभाविक प्रसन्नता के साथ भगवान अरिष्टनेमि, माता-पिता की बात सुन रहे थे, और सोच रहे थे, कि मेरे उत्तर प्रत्युत्तर से माता-पिता को कदापि सन्तोष नहीं हो सकता। इनकी दृष्टि में, संसार में वे ही माता-पिता धन्य हैं, जिनकी संतान का विवाह हो चुका हो, उसी पुत्र का जीवन सार्थक है, जो विवाह-बन्धन में बंध कर पूर्ण ब्रह्मचर्य के उत्तम ध्येय को ठुकरा चुका हो। इस समय, संसार के प्रायः सभी मनुष्यों के विचार ऐसे ही हैं, इसलिए इनमें भी ये विचार होना स्वाभाविक है, लेकिन मुझे, इनके विचारों के प्रवाह में बह जाना ठीक नहीं, न रूखा उत्तर देकर, इन्हें दुःखित करना ही उचित है। किन्तु क्रियात्मक रूप से इनके और इनके साथ ही संसार के सब लोगों के, ऐसे विचार बदल कर, यह बता देना चाहिये, कि विवाह करके संसार में पुनः पुनः जन्म-मरण करने की अपेक्षा, ब्रह्मचर्य-पूर्ण जीवन बिता कर, तथा सब जीवों पर दया करते हुए (प्राणि मात्र को आत्मवत् समझते हुए) जन्म-मरण के चक्कर को मिटाना ही श्रेय-स्कर है। संसार के लोग, अज्ञानवश होकर श्रेय को तो भूल जाते हैं, और प्रेय में पड़ जाते हैं। उन्हें, यह मालूम ही नहीं है, कि

श्रेय को त्याग कर प्रेय को लेने से, हमारी कितनी महान् हानि है, और प्रेय पर लुभा कर श्रेय को अपनाने से कितना महान् लाभ है! धन, स्त्री-पुत्रादि प्रेय में पड़कर संसार के लोग, श्रेय-मोक्ष-को भूल रहे हैं। श्रेय को भूलने से ही, बेचारे प्राणियों का वध करके, लोग उनका मांस भक्षण करते हैं, मदिरापान द्वारा मनुष्यत्व से निकलकर पशुत्व में पड़ते हैं, और वेश्यागमनादि भयंकर पाप में प्रवृत्त होते हैं। यदि मैं, संसार के लोगों को, प्रेय त्याग कर श्रेय अपनाने का आदर्श-रहित उपदेश दूँगा, तो वह उपदेश, पत्थर पर बरसे हुए जल की तरह, निरर्थक ही होगा। इसलिए मैं, संसार के लोगों के सामने, प्रेय को त्याग कर श्रेय को अपनाने का आदर्श रखूँगा और तभी मेरा उपदेश, प्रभावोत्पादक भी हो सकेगा।

माता-पिता की बातें सुनते हुए भगवान ने, अपने हृदय में इस प्रकार का संकल्प किया। माता-पिता की बात समाप्त होने पर, भगवान ने उनसे कहा—आप लोग धैर्य रखिये, अभी विवाह करने के लिए इतना अनुरोध न करिये। अभी मेरे लिए, विवाह करने का अवसर नहीं आया है। अवसर आने पर, सब कुछ हो जावेगा।

भगवान का यह उत्तर सुनकर माता-पिता, अधिक कुछ न कह सके। उनके हृदय में यत्किंचित आशा का संचार हुआ और वे, उत्कण्ठा-पूर्वक उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे, जिस दिन भगवान का विवाह होता हुआ देख सकें।

कृष्ण को भय !

सांसारिक मनुष्य, अपने स्वार्थ पर आघात होना कदापि नहीं सह सकता। उसके समीप, और सब अपराध तो क्षम्य हो सकते हैं, लेकिन उसके स्वार्थ में होनेवाली बाधा, उसे असह्य हो उठती है। इसके द्वारा मेरे स्वार्थ का नाश होगा; मेरे राजपाट, यश वैभव, कीर्ति बड़ाई मान-सम्मान आदि में हानि पहुँचेगी, ऐसी आशंका होते ही सांसारिक मनुष्य, उस शंकास्पद व्यक्ति को, दूसरी ही दृष्टि से देखने लगता है। चाहे वह माता-जात भाई हो, घनिष्ठतम मित्र हो, या और कोई हो, उसकी ओर से स्वार्थ-हानि की आशंका होने पर, उसके प्रति हृदय में निर्मल-प्रेम नहीं रहता। निर्मल-प्रेम का स्थान, द्वेष, कपट आदि दुर्गुण छीन लेते हैं और हृदय में, यह भावना उत्पन्न हो जाती है, कि इसको, किसी प्रकार ऐसा अयोग्य बना दिया जावे, कि जिससे

इसके द्वारा, मेरे स्वार्थ को धक्का न लग सके। इस भावना से प्रेरित होकर वह शंकित व्यक्ति, सन्दिग्ध व्यक्ति के विरुद्ध, अपनी पाशविक शक्ति, अमानुषिक नीति, और राक्षसी अन्याय का प्रयोग भी कर डालता है। कभी-कभी तो ऐसा करने का कारण, केवल भ्रम भी होता है। भ्रमवश किसी के प्रति यह शंका हो जाती है, कि इस व्यक्ति के द्वारा मेरी अमुक हानि होगी, बस, इस भ्रमवश हुई शंका के कारण ही वह सशंक व्यक्ति, सन्दिग्ध व्यक्ति को अपना शत्रु मान लेता है और उसके प्रति, शत्रुतापूर्ण व्यवहार करने लगता है।

जिसके प्रति स्वार्थ-हानि का सन्देह हो जाता है, वह चाहे कैसा ही प्रेमी क्यों न हो, मनुष्य उसके विरुद्ध व्यवहार करने लगता है, इसके अनेकों उदाहरण हैं। यह बात प्रसिद्ध है, कि राजा भोज बालक था और उसका काका मुंज, धारा नगरी का राजा था। मुंज के हृदय में, भोज की बुद्धि-चातुरी देखकर, यह सन्देह हो गया था, कि भोज, मेरे से राज्य छीन लेगा। यद्यपि बालक भोज के हृदय में, उस समय राज्य छीनने की भावना भी नहीं हो सकती थी, परन्तु मुंज को तो सन्देह हो ही गया। इस सन्देह के कारण ही, मेरा हित नष्ट न हो, मेरे स्वार्थ पर आघात न पहुँचे, इस भावना से उसने, भोज को मार डालने की आज्ञा दे दी थी। यह बात दूसरी है, कि मन्त्री की बुद्धिमानी से भोज

जीवित रह गया और फिर मुंज को भी अपनी दुर्भावना पर पश्चा-ताप करना पड़ा, परन्तु स्वार्थ-रक्षा की भावना का वेग होने पर, उसने, अपने प्रिय और बालक भ्रातृपुत्र की हत्या करने का निश्चय कर ही डाला था। इसीप्रकार के, और भी अनेकों उदाहरण हैं। वर्तमान समय में भी, ऐसे अनेक राजबन्दी मिलेंगे, जिनको, सर-कार ने केवल इस भ्रमपूर्ण आशंका से कैद कर रखा है, कि ये हमारा राज्य छीनने की इच्छा रखते हैं, या इनके द्वारा, हमारे स्वार्थ पर आघात पहुँच सकता है।

भगवान अरिष्टनेमि के विषय में भी, ऐसा ही भ्रम हुआ। यद्यपि भगवान अरिष्टनेमि, श्रीकृष्ण के भाई थे, उन्हें राजपाट की चाह नहीं थी और यदि चाह होती भी, तो वे अपने अनन्त बल द्वारा सारे भौतिक संसार के सम्राट बन सकते थे; फिर भी, श्रीकृष्ण के हृदय में उनके प्रति यह सन्देह हो ही गया, कि ये किसी समय मुझ से राज्य न छीन लें!

श्रीकृष्ण, तीन खण्ड पृथ्वी के स्वामी थे। तीन खण्ड पृथ्वी के स्वामी के पास, जैसा विशाल धन वैभव हो सकता है, और जैसी विशाल युद्ध-सामग्री रह सकती है, श्रीकृष्ण के पास, वह सब थी। युद्ध-सामग्री में से शस्त्रास्त्र के लिए, उनके यहाँ, एक विशाल शस्त्रागार बना हुआ था। उस शस्त्रागार में, अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र प्रस्तुत थे। श्रीकृष्ण की कौमोदकी गदा, उनका शार्ङ्ग धनुष, सुदर्शन चक्र,

पांचजन्य शंख और खड्ग भी, इसी शस्त्रागार में रखा रहता था। अनेक वीर, इस शस्त्रागार की, सावधानी से रक्षा किया करते थे। एक दिन, मित्रों के साथ भगवान अरिष्टनेमि, सहज रीति से घूमते हुए, श्रीकृष्ण के उस शस्त्रागार में गये। महाराजा श्रीकृष्ण के प्रिय अनुज और समुद्रविजय के प्रिय पुत्र को आते देखकर, शस्त्रागार-रक्षक ने, उनका उचित अभिवादन-पूर्वक स्वागत किया, तथा प्रार्थना की, कि भगवन्, आज अनायास ही आपका यहां पधारना किस उद्देश्य से हुआ है? क्या मृत्यु किसी शत्रु को यहां खींच लाई है, जिसे काल कवलित कराने के लिए, आप शस्त्रास्त्र लेने पधारे हैं? अथवा क्या किसी देश पर चढ़ाई करने को शस्त्रास्त्र लेने के लिए, आपका शुभागमन हुआ है? मैं, आपकी आज्ञानुसार सेवा करने के लिए उपस्थित हूँ, आप आज्ञा करिये।

शस्त्रागार-रक्षक की प्रार्थना सुनकर, भगवान ने मुसकराते हुए कहा—मैं शस्त्रास्त्र लेने के लिए नहीं आया हूँ, किन्तु क्रीड़ा करता हुआ यहां आ गया हूँ और अब, शस्त्रागार में सुरक्षित शस्त्रास्त्र देखने की इच्छा रखता हूँ।

शस्त्रागार-रक्षक – बहुत ही प्रसन्नता की बात है, जो आज, शस्त्रागार को यह गौरव प्राप्त होगा। पधारिये भगवन्, शस्त्रागार में पधारिये।

शस्त्रागार-रक्षक के साथ, भगवान अरिष्टनेमि, शस्त्रागार में

पधारे। शस्त्रागाररक्षक,वहाँ रखे हुए शस्त्रास्त्र का नाम,उनकी विशेषता, तथा प्रयोग-विधि आदि बताता जाता था और भगवान, उन सब को देखते-सुनते जाते थे। होते-होते, भगवान को साथ लिये हुए शस्त्रागार-रक्षक वहाँ गया, जहाँ, श्रीकृष्ण के दिव्य अस्त्र-शस्त्र रखे हुए थे। शस्त्रागार-रक्षक ने भगवान से कहा—प्रभो, ये अस्त्र-शस्त्र, स्वयं महाराजा श्रीकृष्ण के हैं। यह सूर्य के समान तेजस्वी सुदर्शन चक्र, युद्ध-समय में, महाराजा श्रीकृष्ण के हाथ में इस प्रकार सुशोभित होता है, जैसे श्यामघटा के साथ विद्युत्। यह, जिस व्यक्ति के लिए छोड़ा जाता है, फिर उसका जीवन कदापि नहीं बच सकता। यह चक्र, लक्ष्य बनाये गये शत्रु के कण्ठ का रुधिर पीकर ही रहता है। इस चक्र को, जब यदुकुल-कमल-दिवाकर अपनी अंगुली पर रखकर घुमाते हैं, तब अधिकांश शत्रु-सेना तो, इसके तेज से ही विह्वल होकर भाग जाती है। यह कौमोदकी गदा है। इस गदा का प्रहार सहने में, पर्वत भी असमर्थ हैं। यदि इसके द्वारा पर्वत पर आघात किया जावे, तो पर्वत भी चूर-चूर होकर रजकण में परिणत हो जावेगा; मनुष्य की तो शक्ति ही क्या है, जो इसका आघात सहन कर सके। भगवन्, इस धनुष का नाम शार्ङ्ग है। इसे भी, महाराजा श्रीकृष्ण ही धारण करते हैं। इस धनुष को, श्रीकृष्ण के सिवा और कोई नहीं चढ़ा सकता। इसकी टंकार की ध्वनि, प्रचण्ड मेघगर्जन के समान होती है। शत्रु-सेना

का बहुत भाग तो, इस धनुष की घोर ध्वनि से ही भयभीत होकर भाग जाता है। इससे निकला हुआ प्रत्येक बाण, अचूक होता है और शत्रुविहीन पृथ्वी करके ही रहता है। प्रभो, यह महाराजा श्रीकृष्ण का प्रसिद्ध पाञ्चजन्य शंख है। इस शंख को बजाने की शक्ति, केवल महाराजा श्रीकृष्ण में ही है और किसी के द्वारा इसका बजाना तो दूर रहा, यह उठ भी नहीं सकता। जिस समय महाराजा श्रीकृष्ण, इस शंख से ध्वनि निकालते हैं, उस समय, युद्ध-क्षेत्र में तहलका मच जाता है, और शत्रु-सेना भयभीत होकर भागने लगती है। प्रभो, यह विशाल खड्ग, महाराजा श्रीकृष्ण का है। इस खड्ग के सन्मुख, वज्र-शिला भी तृण ही है। यह जिस पर पड़ता है, उसके टुकड़े करके ही छोड़ता है। महाराजा श्रीकृष्ण, विशेषतः इन्हीं आयुधों को धारण करते हैं।

भगवान अरिष्टनेमि, स्वाभाविक प्रसन्नता-पूर्वक, शस्त्रागार-रक्षक द्वारा की गई श्रीकृष्ण के आयुधों की प्रशंसा, सुन रहे थे। शस्त्रागार-रक्षक द्वारा, श्रीकृष्ण के आयुधों का वर्णन समाप्त होने पर, भगवान, शार्ङ्ग धनुष उठाने के लिए झुके, लेकिन उसी समय शस्त्रागार-रक्षक ने कहा—भगवन् ठहरिये! आप, श्रीकृष्ण के किसी आयुध को उठाने का, विचार भी मत करिये। शस्त्रागार-रक्षक की बात सुनकर, भगवान ठिठुक गये। उन्होंने, अपने हाथ को शार्ङ्ग धनुष उठाने से रोक लिया और मुसकराते हुए, शस्त्रागार-रक्षक से पूछा कि—ऐसा क्यों?

शस्त्रागार-रक्षक – भगवन्! इन आयुधों को उठाने की, श्रीकृष्ण के सिवा, और किसी में शक्ति नहीं है, इसलिए इन्हें उठाने की चेष्टा करनेवाला, इनके द्वारा अपमानित हो जाता है। कदाचित् किसी में, इनको उठाने की शक्ति हुई भी, तो श्रीकृष्ण के सिवा और किसी के उठाने पर, भयंकर अनिष्ट की सम्भावना है। इसलिए मैं, आपसे यही प्रार्थना करता हूँ; कि आप इन्हें उठाने की चेष्टा मत करिये।

भगवान – तुमने, मुझसे यह कहकर अपना कर्तव्य पूरा कर दिया, अब जो दुष्परिणाम होगा, उसका दायित्व तुम पर नहीं, किन्तु मुझ पर ही होगा।

यह कहकर भगवान ने, झुककर विना श्रम ही शार्ङ्ग धनुष उठा लिया। उन्होंने, उसे कमलनाल के समान सहज ही, झुकाकर चढ़ा दिया और टंकारा। शार्ङ्ग धनुष की घोर टंकार-ध्वनि से, द्वारिका नगरी कम्पित हो उठी। समुद्र का पानी भी खलबलाने लगा। जलचर, घबराकर भागने लगे। धनुपटंकार का भयावना शब्द सुनकर, द्वारका-निवासी भयभीत हो गये। प्रजा के हृदय में, इस बात की आशंका उत्पन्न हो उठी, कि आज, श्रीकृष्ण के किसी शत्रु द्वारा, हम पर कोई आपत्ति तो नहीं आने वाली है!

भगवान को, इस प्रकार विना श्रम के ही धनुष उठाते, चढ़ाते और टंकारते देखकर, आयुधागार-रक्षक दंग रह गया। उसे, बहुत ही आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा, कि मैंने ऐसा हस्तकौशल तो

श्रीकृष्ण में भी नहीं देखा ! इनका बल तो, उनसे भी बढ़कर है ! मैं, इनको धनुष उठाने से ही रोकता था, परन्तु जिनमें ऐसी शक्ति है, वे, मेरी बात मानकर कब रुक सकते थे ! जान पड़ता है, कि श्रीकृष्ण ने तो केवल तीन खण्ड पृथ्वी पर ही अपनी विजय-पताका फहराई है, लेकिन ये, समस्त पृथ्वी पर अपना आधिपत्य स्थापित करेंगे !

आयुधागार-रक्षक, इसप्रकार विचार ही रहा था, इतने ही में भगवान ने, धनुष को तो उतार कर यथास्थान रख दिया और पाञ्चजन्य शङ्ख उठाकर, बजाने लगे। भगवान द्वारा फूँके जाने पर, पाञ्चजन्य शङ्ख से जो ध्वनि निकली, उसने, द्वारका-निवासी लोगों का भय और बढ़ा दिया। अनिष्ट की सम्भावना ने, सब के हृदय में खलबली उत्पन्न कर दी। आयुधागार-रक्षक को भी, भगवान का शङ्ख फूँकना देखकर, बहुत विस्मय हुआ। उसके हृदय में भी, भगवान की शक्ति और उनका कौशल जानकर, अनेक प्रकार के विचार होने लगे।

भली प्रकार शङ्खनाद करके, भगवान ने, पाञ्चजन्य शङ्ख को भी यथास्थान रख दिया और सुदर्शन चक्र उठाया। वे, उसे अंगुली पर धारण करके, घुमाने लगे। विद्युत् की तरह चमकने वाला सुदर्शन चक्र, भगवान की अँगुली के सहारे, कुम्हार के चाक की नाईं वेग से घूम रहा था और अपनी चमक से, भगवान के सखाओं एवं

शस्त्रागार-रक्षक आदि की आँखों को चौंधिया रहा था। भगवान को, इसप्रकार कुशलतापूर्वक चक्र घुमाते देखकर, शस्त्रागार-रक्षक अधिक विस्मित हुआ। वह, अपने मन में कहता था, कि चक्र घुमाने की ऐसी दक्षता तो, स्वयं महाराज श्रीकृष्ण में भी नहीं है! ये तो, उनसे भी बढ़कर दक्ष हैं! मुझे तो संसार में ऐसा कोई नहीं जान पड़ता, जो इनकी शक्ति और निपुणता के सन्मुख, युद्ध में स्थिर रह सके।

भगवान ने, सुदर्शन चक्र को भी यथास्थान रख, कौमोदकी गदा उठाकर, उसे भी घुमाया। श्रीकृष्ण के चारों आयुधों का प्रयोग करने के पश्चात्, भगवान ने, पाँचवें आयुध खड्ग को भी उठाया और पूर्व के आयुधों की तरह उसे भी घुमाने लगे। भगवान के सखा – एवम् शस्त्रागार-रक्षक, पहले न देखे हुए भगवान के बल, कौशल को, चुपचाप खड़े देख रहे थे और आयुधागार-रक्षक, मन ही मन अपनी उन बातों के लिए पश्चाताप कर रहा था, जो उसने, आयुध उठाने से रोकने के लिए, भगवान से कही थीं।

भगवान द्वारा किये गये शंखनाद और धनुष की टंकार को, राजसभा में बैठे हुए, श्रीकृष्ण आदि यादवों ने भी सुना। सब लोग, आश्चर्य और भय के साथ विचारने लगे, कि यह शंखनाद किसने किया है और किसने धनुप टंकारा है! अनेक आशंकाओं के कारण, श्रीकृष्ण का हृदय, अस्थिर हो उठा। वे सोचने लगे, कि कहीं कोई

शत्रु तो चढ़ाई करके नहीं आया है, जो मुझको, शंखनाद तथा धनुष-टंकार द्वारा चुनौती दे रहा हो! इसप्रकार के विचार-प्रवाह ने, उनके हृदय में उथल-पुथल मचा दी। वे, तत्क्षण सभा-भवन से उठकर, बलदेव आदि प्रमुख यादवों सहित, अपने शस्त्रास्त्र लेने के लिए, शस्त्रागार में आये। शस्त्रागार में पहुँच कर उन्होंने, भगवान अरिष्टनेमि को खड्ग घुमाते देखा। उस दिन से पहले, श्रीकृष्ण ने, भगवान अरिष्टनेमि को, शस्त्रागार में इस प्रकार अस्त्र प्रयोग करते नहीं देखा था। आज उन्हें शस्त्रागार में और स्वयं (कृष्ण) के खड्ग को घुमाते देखकर, श्रीकृष्ण को बहुत आश्चर्य हुआ। श्रीकृष्ण को आया जान कर, भगवान ने, खड्ग घुमाना बन्द कर दिया। खड्ग को यथास्थान रखकर उन्होंने, अपने बड़े भ्राता महाराज श्रीकृष्ण का, उचित आदर किया। श्रीकृष्ण ने भी, उनसे कुशल पूछी और फिर कहने लगे—भैया अरिष्टनेमि, क्या अभी आप ही ने धनुष टंकारा था और शंखनाद किया था?

भगवान – हाँ, मैंने ही शंख को बजाकर और धनुष को टंकार कर देखा था।

कृष्ण – अनायास धनुष टंकार और शङ्खनाद को सुनकर, हमारे हृदय में, शत्रु की आशङ्का हो गई थी, लेकिन वह आशङ्का निर्मूल थी, यह जानकर प्रसन्नता हुई। साथ ही, इस विचार से और हर्ष हुआ, कि मेरे आयुधों का प्रयोग आप भी कर सकते हैं। जरा एक

बार मेरे आयुधों का प्रयोग फिर तो करिये, जिसमें हम लोग भी आपका कौशल देख सकें !

श्रीकृष्ण की बात सुनकर, भगवान्, कुछ मुसकराये। उन्होंने, सरलता तथा नम्रतापूर्वक, पाञ्चजन्य शङ्ख, शार्ङ्ग धनुष, सुदर्शन-चक्र, कौमोदकी गदा और खड्ग का उपयोग, पूर्व की भांति फिर कर दिखाया। भगवान अरिष्टनेमि का बल, कौशल और उनकी शस्त्रास्त्र-प्रयोगविधि देखकर, सब लोग साश्चर्य प्रसन्न हुए, लेकिन श्रीकृष्ण के हृदय में, एक चिन्ता भी उत्पन्न हो गई। श्रीकृष्ण, समस्त यादवों में स्वयं को ही अधिक बलवान, पराक्रमी और शस्त्रास्त्रकला-कुशल मानते थे, तथा दूसरे सब लोगों की दृष्टि में भी, ऐसा ही था; परन्तु आज, श्रीकृष्ण के साथ ही, उनके साथी प्रमुख यादवों का भी, यह विचार बदल गया। सब को यह विश्वास हो गया, कि भगवान अरिष्टनेमि ही, सब यादवों में अधिक बलवान, अधिक पराक्रमी और शस्त्रास्त्र-कला-कुशल हैं। इस विचार परिवर्तन ने, श्रीकृष्ण के हृदय में, एक गम्भीर चिन्ता पैदा कर दी। वे सोचने लगे, कि वैसे तो भाई अरिष्टनेमि बहुत नम्र, सरल और विनयवान हैं, लेकिन मनुष्य के चित्त की दशा, सदा एकसाँ नहीं रहती। यदि किसी समय, इनमें राज्य-लोभ का विकार आया, तो इन्हें, मेरा राज्य छीनने में किंचित् भी विलम्ब, या श्रम न होगा। साथ ही, अब तक सब यादवों पर मेरे बल का प्रभाव है, लेकिन आज से, मेरा वह

प्रभाव भी न रहेगा। यादव लोग, भाई अरिष्टनेमि को मुझसे अधिक और यदि अधिक नहीं, तो मेरी समानता का बलवान तो मानने लगेंगे ही। यदि किसी समय, भाई अरिष्टनेमि, मेरे विद्रोही बन खड़े हुए, तो अनेक यादवलोग भी इनके साथ हो जावेंगे। इसलिए, इनका बल किसी दिशा में लगा देना ही उचित है, जिसमें, मेरे लिए भय भी न रहे और इनके बल से कुछ लाभ भी हो।

इस प्रकार विचार कर, श्रीकृष्ण ने, राजनीति के अनुसार कृत्रिम प्रसन्नता दिखाते हुए, भगवान अरिष्टनेमि से कहा, कि—भैया अरिष्टनेमि, आप तो शस्त्रास्त्रप्रयोग में पूर्ण निष्णात् हैं! आपकी समता तो, मैं भी नहीं कर सकता! अपने भाई को, इस प्रकार शस्त्रास्त्रकुशल और बलसम्पन्न जानकर, मुझे आज असीम प्रसन्नता हुई है। मैं, अब तक नहीं जानता था, कि आप ऐसे हैं। यदि मुझे, आपके बल और शस्त्रकौशल का पता होता, तो मैं, आपकी सहायता से जम्बूद्वीप के शेष खण्ड भी जीतकर, अब तक कभी से अपने साम्राज्य में मिला लेता, तथा वहाँ, यदुवंशियों की विजयपताका फहरा देता! जो हुआ सो हुआ, लेकिन अब आप मेरी सेना ले जाइये और विजय से बचे हुए, जम्बूद्वीप के शेष खण्डों पर, विजय प्राप्त करिये।

भगवान — ऐसा करने से क्या होगा?

श्रीकृष्ण — साम्राज्य की वृद्धि।

भगवान — साम्राज्य का इतना अधिक विस्तार करके, आप क्या

करेंगे ? आप, जिस बड़े साम्राज्य के स्वामी हैं, क्या वह, आपके लिए अपर्याप्त है ?

श्रीकृष्ण — राजाओं को, इस ओर से तो सन्तोष होना ही न चाहिए, किन्तु उन्हें, साम्राज्य-वृद्धि का उपाय निरन्तर करते ही रहना चाहिए। संसार में, उसी का जीवन सफल है, जो अपनी भुजाओं द्वारा, राज्य, यश और वैभव प्राप्त करता है।

भगवान — लेकिन ऐसा करने में, कितने निरपराध प्राणियों की हिंसा होगी ?

श्रीकृष्ण — इस बात का विचार रखने पर, साम्राज्य की वृद्धि तो दूर रही, अपना राज्य भी खो देना पड़ेगा। राज्य के लिए, हिंसा-अहिंसा का विचार, हानिप्रद है।

भगवान — मैं, आपके इस कथन से कदापि सहमत नहीं हो सकता। अपनी राज्य-लिप्सा पूर्ण करने के लिए, दूसरों को कष्ट में डालना, दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण करना, मैं, सर्वथा अनुचित, अन्याय और अधर्म समझता हूँ। इसलिए मैं, आपकी इस आज्ञा का पालन करने में, असमर्थ हूँ। इसके लिए आप, मुझे क्षमा करें।

श्रीकृष्ण — फिर आप अपने बल का, क्या उपयोग करेंगे ?

भगवान — प्राप्त बल, दूसरों को कष्ट देने के लिए नहीं है, किन्तु इसका उपयोग, दूसरों की सहायता करने, दूसरों की रक्षा करने और दूसरों को सुख पहुँचाने में ही करना चाहिए।

श्रीकृष्ण — लेकिन केवल इसी नीति का अंवलम्बन लेने पर, राज्य कैसे चल सकता है ?

भगवान — यदि इस नीति से राज्य नहीं चल सकता, तो दूसरों को दुःख पहुँचाने से भी राज्य नहीं चल सकता; और कदाचित्, दूसरों को दुःख पहुँचाने से ही राज्य चल सकता हो, ऐसा किए बिना न चल सकता हो, तो ऐसे राज्य को त्याग देना ही श्रेयस्कर है। ऐसा राज्य, कदापि कल्याणकारी नहीं हो सकता, जिसके कारण, दूसरों पर अन्याय-अत्याचार करना पड़े।

भगवान का यह उत्तर सुनकर, श्रीकृष्ण को, अपनी नीति की असफलता से, बड़ी निराशा हुई। वे, भगवान से अधिक कुछ न कह सके। अन्त में उन्हें यही कहना पड़ा, कि यदि आपकी इच्छा दिग्विजय के लिए जाने की नहीं है, तो मैं, आपको बलात नहीं भेजना चाहता। यह कह कर, यादवों सहित श्रीकृष्ण, अपने अपने महल को गये और भगवान अरिष्टनेमि, अपने महल को गये।

इस घटना को, कुछ दिन बीत गये। एक दिन महाराजा श्रीकृष्ण, उस बाग में गये, जहाँ व्यायामादि करने के लिए, अखाड़ा बना हुआ था और प्रमुख यादव-कुमार, परस्पर मल्लयुद्ध करके, अपने-अपने बल और दाँव-पेच का परिचय दे रहे थे। यादव-कुमारों का मल्लयुद्ध और उनके दाँव-पेच देखने के लिए, वहाँ, अनेक प्रमुख यादव भी उपस्थित थे और बहुत-सी रानियाँ, एवं यादवों

की स्त्रियाँ भी। भगवान अरिष्टनेमि भी, वहाँ उपस्थित थे। श्रीकृष्ण ने, इस अवसर को, भगवान अरिष्टनेमि का बल जानने के लिए, उपयुक्त समझा। उन्होंने सोचा, कि यदि अखाड़े में इनकी अपेक्षा मेरा बल अधिक ठहरा, तो एक तो इनका उत्साह भी न बढ़ने पावेगा और दूसरे, इनके द्वारा किये गये मेरे आयुधों के प्रयोग का यादवों पर जो प्रभाव पड़ा है, उससे यादव लोग इन्हें मेरे समान या मुझसे अधिक बलवान मानने लगे हैं, इनका वह प्रभाव भी, नष्ट हो जावेगा।

इस प्रकार विचार कर श्रीकृष्ण ने, भगवान अरिष्टनेमि से कहा, कि-भैया अरिष्टनेमि, आओ, हम तुम भी अखाड़े में चल कर दाँव खेलें और एक दूसरे का बल देखें; जिसमें अपने को मालूम रहे, कि मुझमें और तुममें से अधिक बलवान कौन है!

श्रीकृष्ण का यह कथन सुनकर, भगवान अरिष्टनेमि कुछ मुसकराये। उन्हें, श्रीकृष्ण का उद्देश्य जानने में, कुछ भी देर न लगी; फिर भी, श्रीकृष्ण के कथन के उत्तर में वे नम्रतापूर्वक कहने लगे—पूज्य भ्राता, अपने श्रद्धास्पद के साथ इस प्रकार बल-प्रयोग करना, उचित नहीं है। कदाचित्, मैं आपसे अधिक बलवान भी होऊँ, तब भी, आप बड़े हैं, अतः मुझे, आपके सामने नम्र और निर्बल होकर ही रहना चाहिए। अपनेआप को अधिक बलवान सिद्ध करने के लिए, मुझे यह काम न करना चाहिए, जिससे मर्यादा का उल्लंघन होता हो।

श्रीकृष्ण – नहीं, बल-प्रयोग करने में मर्यादा उल्लंघन का भय नहीं है, न आपका मेरे साथ बल प्रयोग करना, अनुचित ही है। क्योंकि, आप स्वयं अपने को अधिक बलवान सिद्ध करने के लिए मेरे साथ बल–प्रयोग नहीं करेंगे, किन्तु मेरे कहने से बल-प्रयोग करेंगे। अपन क्षत्रिय हैं। अपने को, एक दूसरे के बल का पता होना आवश्यक है, जिसमें किसी समय भ्रम न हो और आवश्यकता होने पर, योग्य कार्य का ध्यान रहे।

भगवान – यदि आपका यह कथन ठीक हो, तो भी, बल का पता लगाने के लिए मल्लयुद्ध करना आवश्यक नहीं है। बल का पता तो, मल्लयुद्ध किये बिना भी लग सकता है। एक दूसरे का हाथ झुकाकर भी यह जान सकते हैं, कि किसमें अधिक बल है।

श्रीकृष्ण – यह उपाय भी ठीक है। चलो, इस उपाय से ही बलाबल का निर्णय करें।

श्रीकृष्ण और भगवान अरिष्टनेमि, अखाड़े में उतरे। श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि से कहा, कि आप अपना हाथ फैलाइये, मैं उसे झुकाता हूँ। भगवान ने उत्तर दिया – नहीं, आप बड़े हैं, इसलिए पहले आप अपना ही हाथ फैलाइये और मैं उसे झुकाऊँ।

श्रीकृष्ण ने अपना हाथ फैलाकर, भगवान से कहा–हाँ, झुकाइये। श्रीकृष्ण का अनुमान था, कि अरिष्टनेमि मेरा हाथ न झुका सकेंगे, परन्तु उनका अनुमान गलत निकला। वामचरण के अँगूठे

मात्र से मेरु पर्वत को हिलानेवाले भगवान अरिष्टनेमि के लिए, श्रीकृष्ण का हाथ झुकाना, क्या कठिन था ! भगवान ने, श्रीकृष्ण का हाथ पकड़ कर, विना किसी श्रम या कठिनाई के इस प्रकार झुका दिया, जैसे मत्त गजराज, अपनी सुंड से पकड़कर, वांस को झुका देता है। भगवान का यह पराक्रम देखकर, वहाँ उपस्थित लोग, वाहवाह और धन्यधन्य की ध्वनि करने लगे। श्रीकृष्ण को भी, भगवान का वल जानकर, वड़ा विस्मय हुआ। उनके हृदय का भय, वढ़ गया और उन्हें, अपने वल की ओर से कुछ निराशा-सी हुई। अव वे यह सोचने लगे, कि यदि मैं भी अरिष्टनेमि का हाथ झुका सकूँ और दोनों समान वलवान ठहर जावें, तव भी अच्छा हो। उन्होंने, भगवान अरिष्टनेमि से कहा—आपने तो मेरा हाथ झुका दिया, लेकिन अव आप अपना हाथ भी फैलाइये। देखें, मैं भी आपका हाथ झुका सकता हूँ, या नहीं।

भगवान अरिष्टनेमि ने, अपना हाथ फैलाया। श्रीकृष्ण, भगवान का हाथ झुकाने लगे। उन्होंने, पहले तो अपने एक ही हाथ से भगवान का हाथ झुकाने की चेष्टा की, परन्तु जव उनके एक हाथ से भगवान का हाथ न झुका, तव वे, दोनों हाथों से भगवान का हाथ झुकाने लगे। उन्होंने, भगवान का हाथ झुकाने में अपना सारा वल लगा दिया, वे भगवान के हाथ से हिलग भी गये; फिर भी, भगवान का हाथ न झुका सके। श्रीकृष्ण को, भगवान का वह हाथ ऐसा

सुदृढ़ प्रतीत हुआ, जैसे वज्र-वृक्ष की शाखा ही हो। अन्त में, वे, थक कर यह कहते हुए एक तरफ जा खड़े हुए, कि मुझ से आपका हाथ न झुकेगा, आप मेरे से अधिक वलवान हैं।

श्रीकृष्ण के हृदय में, बड़ी लज्जा और ग्लानि हो रही थी। उनके हृदय में, भगवान अरिष्टनेमि की ओर से सन्देह तो पहले ही हो चुका था, लेकिन इस विचार ने उन्हें और व्यथित कर दिया, कि मैंने, अरिष्टनेमि के वल से अपना वल क्यों तौला! ऐसा करके तो मैंने, अरिष्टनेमि को अपने वल का पता दिया है, तथा उनका साहस वढ़ा दिया है। मैंने, यह वड़ी गल्ती की है।

इसप्रकार अपने मन में अनेक विचार करते हुए श्रीकृष्ण, अपने महल को गये और भगवान तथा और सव यादव, अपने अपने स्थान को गये।
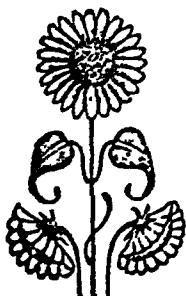
विना दी स्वीकृति

दुःख और पाप का मूल, परिग्रह ही है। परिग्रह का अर्थ है, सांसारिक वस्तु (धन, भूमि, मनुष्य, पशु आदि) पर ममत्व-भाव का होना। संसार की जिस भी वस्तु पर ममत्व है, वह परिग्रह है, और जो परिग्रह है, वह दुःख और पाप का उत्पादक है।

संसार के लोग, परिग्रह को सुख-रूप समझते हैं, परन्तु परिग्रह से न तो कभी कोई सुखी हुआ ही है और न कभी, कोई सुखी हो ही सकता है। परिग्रह चाहे प्राप्त हो, या अप्राप्त हो, दोनों ही दशा में, दुःख और पाप का ही कारण है। दोनों ही दशा में, मानसिक सन्ताप वना रहता है। प्राप्त परिग्रह की रक्षा की चिन्ता, सदैव वनी ही रहती है। किसी भी समय शान्ति नहीं रहती, न किसी पर विश्वास ही रहता है। वल्कि, विश्वासपात्र समझे जानेवाले

पिता, पुत्र, भाई, स्त्री, बहन, माता, या दूसरे सम्बन्धी की ओर से भी, भय, तथा सन्देह बना रहता है और इस कारण, इनकी हत्या तक कर डाली जाती है, या इनको शक्तिहीन बनाने की चेष्टा की जाती है। प्राप्त परिग्रह की रक्षा के लिए ही, कंस ने अपने पिता उग्रसेन को और औरंगजेब ने, अपने पिता शाहजहाँ को कारागार में डाल दिया था। इसीलिए दुर्योधन ने, अपने भाई पाण्डवों को नष्ट करने का उपाय किया था और औरंगजेब ने, अपने भाइयों को मार डाला था। इस तरह, प्राप्त-परिग्रह भी दुःख तथा पाप कराने वाला होता है, और जो प्राप्त नहीं हुआ है, उसकी प्राप्ति के लिए भी दुःख सहने पड़ते हैं, तथा पाप करना पड़ता है। कोणिक और चेड़ा के संग्राम का कारण, यही था। महाभारत का युद्ध और यूरोप का महासमर भी, इसी वास्ते हुआ था। इस प्रकार जो परिग्रह प्राप्त नहीं हुआ है, उसकी प्राप्ति के लिए दुःख और पाप करना पड़ता है। जो प्राप्त परिग्रह नष्ट हो गया है, वह भी दुःख और प्रतिहिंसादि पाप कराता रहता है और जो परिग्रह प्राप्त है, वह रक्षा के लिए दुःख और पाप कराता रहता है। इसीलिए विद्वानों ने कहा है :—

अर्थानामर्जने दुःख मर्जितानां च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थाः दुःख संश्रयाः॥

प्राप्त परिग्रह, दम्भ, अभिमान और अनैतिकता का आचरण भी

कराता है। संसार में अधिक से अधिक पाप, परिग्रही द्वारा ही होते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि पाप, परिग्रही ही करता है। परिग्रही, चाहे प्रकट में किसी जीव का वध न करता हो; परन्तु वह अपने आचरण द्वारा दूसरे जीवों को कष्ट में डालता है। चाहे वह वाणी से झूठ न बोलता हो, परन्तु व्यवहार में छल-कपट करता है। चाहे वह किसी का घर न फाड़ता हो, परन्तु दूसरे का स्वत्वापहरण करता है। चाहे वह परस्त्री न भोगता हो; परन्तु दूसरे के व्यभिचार का कारण बनता है और दूसरे को अनैतिक आचरण करने के लिए विवश करता है। तात्पर्य यह, कि समस्त पाप और दुःख का कारण, परिग्रह ही है।

भगवान अरिष्टनेमि को, स्वप्न में भी राज्य की इच्छा न थी। दिग्विजय के विषय में दिये गये उनके उत्तर से, यह बात बिलकुल स्पष्ट थी। इसके सिवा, यदि उन्हें राज्य की चाह होती, तो वे, अपने पराक्रम से सारी पृथ्वी का राज्य ले सकते थे, अपने भ्राता श्रीकृष्ण का राज्य छीनने की आवश्यकता क्यों हो! लेकिन श्रीकृष्ण के विचार में यह बात नहीं आई; इससे उनके हृदय में, भगवान अरिष्टनेमि की ओर से, सन्देह उत्पन्न हो ही गया। परिग्रह के होने पर, ऐसा होना स्वाभाविक है।

अखाड़े से लौटकर श्रीकृष्णजी, इस विचार में पड़ गये, कि, भाई अरिष्टनेमि की ओर से निर्भय होने के लिए, क्या उपाय किया

जावें। जब स्वयं कुछ निश्चय न कर सके, तब वे अपने बड़े भ्राता बलदेवजी के पास गये और उनसे कहने लगे—भ्राता, भाई अरिष्टनेमि मुझ से भी अधिक बलवान तथा पराक्रमी हैं। उन्होंने, मेरा हाथ किस सरलता से झुका दिया और मैं कितना बल लगाने पर भी उनका हाथ झुकाने में समर्थ न हुआ, यह बात आपने देखी ही है। साथ ही, आपने उनका शस्त्रकौशल भी देखा है। उनका बल और शस्त्रकौशल देखकर, मेरे हृदय में यह भय उत्पन्न हो गया है, कि किसी समय वे विद्रोही बनकर मुझे राज्यच्युत न कर दें। यदि उन्होंने विद्रोह मचाया, तो अपने में से किसी को भी यह शक्ति नहीं है, कि जो उन्हें पराजित करे। मैंने, उनसे यह भी कहा, कि आप मेरी सेना लेकर जाइये और जम्बू द्वीप के बाकी बचे हुए खण्ड विजय करिये। मैंने सोचा था, कि यदि वे ऐसा करना स्वीकार कर लें, तो उनकी ओर का भय भी कुछ कम हो जावेगा, उनका बल भी बढ़ने न पावेगा और साम्राज्य की भी वृद्धि होगी, परन्तु उन्होंने मेरी यह बात नहीं मानी। अब क्या उपाय किया जावे, जो मेरा यह भय मिटे?

श्रीकृष्णजी की बात के उत्तर में, बलदेवजी हँसकर उनसे कहने लगे, कि-भैया, आपका यह भय निरर्थक है। भाई अरिष्ट-नेमि की ओर से, आपको इस प्रकार का किंचित् भी भय न रखना चाहिए। माता शिवादेवी ने, उनके गर्भ समय में जो चौदह

सहा स्वप्न देखे थे, उनसे स्पष्ट है कि भाई अरिष्टनेमि, त्रिलोकपूज्य भगवान तीर्थंकर हैं, जो संसार से अधर्म उठाकर, धर्म की स्थापना करने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं। उनके हृदय में, राज्य का किंचित् भी लोभ नहीं हो सकता।

श्रीकृष्ण—भ्राता, आपका यह कथन तो ठीक है, परन्तु राज्य पर किसका मन नहीं ललचाता! यदि भाई अरिष्टनेमि ने किसी प्रकार का उपद्रव न किया, तब तो अच्छा ही है, लेकिन यदि उन्होंने मुझ से राज्य छीनने के लिए उपद्रव किया, तो उस समय मेरे और आपके लिए इनका सामना करना, सर्वथा असम्भव हो जावेगा। इसलिए अभी ही, इस भय को मिटाने का उपाय करना अच्छा है।

बलदेवजी ने उत्तर में कहा—भाई, आप तो सर्वथा असम्भव बात को भी सम्भव मानकर, अपने लिए निष्कारण ही भय उत्पन्न कर रहे हैं और फिर उसको मिटाने के लिए चिन्तित हैं। जो इस समस्त संसार को ही तृणवत् त्यागने वाले हैं, जो राग द्वेष मिटा कर संसार को भी ऐसा करने का उपदेश देने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं और जिनके विषय में अनेक महापुरुष ऐसी ही भविष्य-वाणी कर चुके हैं, उनमें राज्य-लोभ कैसे हो सकता है! वे, राज्य के लिए युद्ध कैसे कर सकते हैं और अपने भाइयों को कैसे मार सकते हैं! कदाचित् उनको राज्य करने की इच्छा भी हुई, तो वे

आप से भी अधिक बलवान और शस्त्रास्त्र-कुशल हैं, तब उनके लिए दूसरा राज्य प्राप्त करना क्या कठिन है ! यदि उनको राज्य करना ही होता, तो वे आपके द्वारा किये गये दिग्विजय के प्रस्ताव को अस्वीकार क्यों कर देते ! महापुरुषों द्वारा की गई भविष्य-वाणी से और उनके व्यवहार से स्पष्ट है, कि उनमें आपके इस छोटे से राज्य का तो क्या, सारे संसार के राज्य का भी लोभ नहीं हो सकता। आप, उनकी ओर से व्यर्थ ही भयभीत हो रहे हैं। आप, अपने में से इस सन्देह को निकाल दीजिये और निःशंक राज्य-कार्य करिये।

बलदेवजी ने, श्रीकृष्ण को इस तरह समझा कर, सन्तोष दिलाया। बलदेवजी के समझाने से, श्रीकृष्ण का सन्देह दूर हुआ। वे सन्तुष्ट होकर अपने महल को लौट गये।

इस बात को कुछ दिन बीत गये। उधर महाराजा समुद्र-विजय और महारानी शिवादेवी, भगवान से विवाह करने की स्वीकृति देने के लिए बारबार अनुरोध करते थे, लेकिन भगवान, उनके अनुरोध को सदा ही टाल दिया करते थे। भगवान से स्वीकृति लेने में अपने को असफल और भगवान का विवाह देखने की स्वयं की इच्छा को अपूर्ण देखकर, भगवान के माता-पिता ने, इस विषय में श्रीकृष्ण की सहायता लेना उचित समझा। उन्होंने सोचा, कि हमारे कहने से तो अरिष्टनेमि विवाह करना स्वीकार करते नहीं हैं,

इसलिए अब, श्रीकृष्ण द्वारा उन्हें समझाने के सिवा, और मार्ग ही क्या है! सम्भव है, कि अपने बड़े भ्राता, समस्त यादवों के स्वामी तथा द्वारका के महाराजा श्रीकृष्ण के समझाने से, अरिष्टनेमि मान जावें और विवाह करना स्वीकार कर लें। इस प्रकार विचार कर, एक दिन उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा—वत्स, तुम्हारे छोटे भाई अरिष्टनेमि अब पूर्ण युवक हो गये हैं, फिर भी अब तक अविवाहित ही हैं। इस अवस्था तक अविवाहित रहने से, लोग उनके विषय में न मालूम क्या क्या अनुमान लगाते होंगे। साथ ही, तीन खण्ड के स्वामी का भाई इस अवस्था तक अविवाहित रहे, यह भी एक विचारणीय बात है। हमने, अपनी ओर से तो अरिष्टनेमि से विवाह करने के लिए अनेक बार अनुरोध किया, लेकिन उन्होंने, हमारे अनुरोध को अब तक स्वीकार नहीं किया। सम्भव है, कि वे आपका अनुरोध न टाल सकें और विवाह करना स्वीकार कर लें। इसलिए इस विषय में, आप प्रयत्न करें तो अच्छा हो।

दोनों का कथन सुनकर, श्रीकृष्ण ने विचार किया, कि यद्यपि भाई अरिष्टनेमि के विषय में, भ्राता बलदेवजी ने कुछ और ही कहा है, लेकिन इन वृद्ध पितृव्य और पितृव्य-पत्नी की इच्छा को पूर्ण करने का उपाय करना भी, मेरा कर्तव्य है। आगे तो जो होना होगा, वह होगा ही।

इस प्रकार विचारकर श्रीकृष्ण कहने लगे—वास्तव में आपका

कथन ठीक है। भाई अरिष्टनेमि का, अब अविवाहित रहना किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं है। अब तक इस ओर न तो मेरा स्वयं का ही ध्यान गया था, न आपने ही मेरा ध्यान इस ओर खींचा था, अन्यथा अरिष्टनेमि का विवाह, अबतक कभी से हो गया होता! अब आपने मुझे यह कार्य सौंपा है, तो मैं इसको पूरा करने के लिए पूर्णरीत्या प्रयत्न करूँगा और मुझे विश्वास है, कि मेरा प्रयत्न सफल होगा।

महाराजा समुद्रविजय और महारानी शिवादेवी को विश्वास दिलाकर, श्रीकृष्ण, अपने रनवास में आये। वे यह सोचने लगे, कि ऐसा कौनसा उपाय किया जावे, जिसमें भाई अरिष्टनेमि विवाह करना स्वीकार कर लें! इस विषयक विचार में वे इतने तन्मय हो गये, कि समीप कौन आता है, या कौन क्या कहता है, इस ओर उनका किंचित् भी ध्यान न था।

श्रीकृष्णको गम्भीर विचार सागर में निमग्न देखकर, सत्यभामा उनसे पूछने लगीं – प्रभो, आप सदा तो यहाँ प्रसन्नमुख ही पधारते हैं, अपने साथ किसी प्रकार की चिन्ता नहीं लाया करते, लेकिन आज तो आप, किसी महान् विचार में डूबे हुए दिखाई देते हैं! किसी से बोलते तक नहीं! क्या आप हमें भी यह बताने की कृपा करेंगे, कि आज आप किस विचार में पड़े हुए हैं?

सत्यभामा का कथन सुनकर, श्रीकृष्ण ने सोचा, कि भाई

अरिष्टनेमि से विवाह करने की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए यदि स्त्रियाँ प्रयत्न करें, तो सफलता की बहुत कुछ आशा हो सकती है। अतः इस कार्य का भार, सत्यभामा आदि पर ही डाल देना उचित है। इस प्रकार विचारकर, सत्यभामा के कथन के उत्तर में श्रीकृष्ण कहने लगे, कि मैं जिस विषय पर विचार कर रहा हूँ, वह विषय एक दृष्टि से तो बहुत साधारण है, लेकिन दूसरी दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। मैं, भाई अरिष्टनेमि के विवाह के विषय में विचार कर रहा हूँ। वैसे तो यह कोई विचारणीय बात ही नहीं है, लेकिन दूसरी तरह से विचार करने से, बात बड़ी गम्भीर है। भाई अरिष्टनेमि, अब पूर्ण युवक हो चुके हैं। उनकी अवस्था का, कोई भी यादवकुमार अविवाहित नहीं है, लेकिन वे अविवाहित हैं। मेरे भाई अरिष्टनेमि इतनी अवस्था तक अविवाहित रहें, यह मेरे लिए विशेष लज्जा की बात है। मैं, आज इसी विषय में विचार कर रहा हूँ।

सत्यभामा—स्वामिन्, इसमें चिन्ता या विचार की क्या बात है! उनके साथ विवाह करने के लिए, अनेकों राजकन्याएँ लालायित होंगी।

कृष्ण—हाँ यह तो ठीक है, लेकिन कठिनाई की बात तो यही है, कि भाई अरिष्टनेमि ही विवाह करना स्वीकार नहीं करते। यदि वे विवाह करना स्वीकार कर लेते, तब तो विचार की बात ही क्या

थी। पितृव्यादि ने, भाई अरिष्टनेमि से विवाह करना स्वीकार कराने के लिए बहुत प्रयत्न किया, लेकिन सफलता न मिली। तुम लोग तो, इस ओर से बिलकुल निश्चिन्तसी ही जान पड़ती हो। यदि निश्चिन्त न होतीं, किन्तु प्रयत्न करतीं, तो भाई अरिष्टनेमि से विवाह की स्वीकृति लेना कोई असम्भव कार्य न था।

सत्यभामा—ऐसे कार्य में, आपकी आज्ञा विना, हम किसी प्रकार का प्रयत्न कैसे कर सकती थीं?

कृष्ण—इसमें आज्ञा की तो कोई आवश्यकता न थी।

सत्यभामा—तो ठीक है, अब हम भी देवरजी से शीघ्र ही विवाह करना स्वीकार करा लेंगी। हाँ, कुछ प्रयत्न अवश्य करना होगा, लेकिन कार्य असाध्य नहीं है। इस विषयक प्रयत्न करने के लिए, ये ही दिन उपयुक्त हैं। वसन्त ऋतु में, ऐसे कार्य बहुत सरलता से हुआ करते हैं। आप, रेवतिगिरि पर वसन्तोत्सव मनाने की तैयारी कराइये, तथा देवरजी और प्रमुख युवक-यादवों सहित आप भी वहाँ पधारिये। हम सब, वहीं देवरजी को विवाह करने के लिए प्रसन्न कर लेंगी।

सत्यभामा की बात सुनकर, कृष्ण को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने, दूसरे ही दिन रेवतगिरि पर वसन्तोत्सव मनाने की तैयारी कराई। वसन्तोत्सव मनाने की समस्त सामग्री, रेवतगिरि पर भेज दी गई। अपनी अपनी पत्नियों सहित श्रीकृष्ण बलदेव आदि

प्रमुख और समान आयु वाले यादव, रथ में बैठ बैठ कर रेवतगिरि के लिए चले। श्रीकृष्ण ने, भगवान अरिष्टनेमि से भी रेवतगिरि पर चलने का अनुरोध किया। भगवान अरिष्टनेमि, श्रीकृष्ण के अनुरोध को न टाल सके और वे भी, रथ में बैठ कर चले।

मार्ग में, सत्यभामा प्रभृति श्रीकृष्ण की रानियाँ, तथा अन्य स्त्रियाँ, ऋतु के अनुकूल गीत गाती जाती थीं। बीच बीच में, कोई न कोई प्रसंग निकाल कर वे, भगवान अरिष्टनेमि को लक्ष्य बना कर व्यंग भरी बातें भी करती जाती थीं। कोई तो बात का प्रारंभ करती थी, कोई अनुमोदन करती थी, कोई समर्थन करती थी, और फिर सब भगवान की ओर देखकर हँसती थीं। उनके इन कार्यों का कारण, भगवान भली प्रकार जानते थे, फिर भी वे चुप-चाप उन सब की व्यंगात्मक बातें सुनते जाते थे और अपने हृदय में, मोह की विचित्रता पर विचार करते जाते थे।

रेवतगिरि पर पहुँचकर, सब स्त्री-पुरुष, वसन्तोत्सव मनाने लगे। किसी पत्नी ने, नवविकसित सुगन्धित पुष्पों की माला बना कर, अपने पति को पहनाई और किसी पति ने, अपनी पत्नी को पहनाई। किसी ने, कोमल आम्रमंजरी पति को भेंट की और किसी ने पत्नी को। कुछ स्त्रियाँ, मधुर स्वर में वसन्त ऋतु के योग्य गीत गाती थीं, कुछ वाद्य बजाती थीं, और कुछ झुण्ड की झुण्ड मिलकर नृत्य करती थीं। पुरुष भी, परस्पर विनोद करते हुए

स्त्रियों की क्रीड़ा को देख देख कर प्रसन्न हो रहे थे, तथा स्वयं भी क्रीड़ा में भाग ले रहे थे।

इस प्रकार सब स्त्री-पुरुष, बड़ी देर तक वसन्तोत्सव मनाते रहे। बीच बीच में कृष्ण की रानियाँ, भगवान अरिष्टनेमि को-सारी की ही तरह व्यंग-भरी बातें सुना देती थीं, और कभी कभी उनको चारों ओर खड़ी होकर, आपस में अनेक प्रकार की ऐसी बातें करने लगती थीं, जिन्हें सुनकर भगवान अरिष्टनेमि के हृदय में, विवाह करने की इच्छा उत्पन्न हो। साथ ही वे, भगवान से यह भी पूछती जाती थीं, कि देवरजी, आगामी वसन्तोत्सव के समय तो आप भी पत्नी सहित होंगे न? लेकिन भगवान, उनके इस प्रकार के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं देते थे। वे, उसी प्रकार निश्चल थे, जिस प्रकार साधारण पवन लगने से, मंदराचल पर्वत विचलित नहीं होता, किन्तु निश्चल ही बना रहता है। वैसे तो काम-विकार से संसार के लोग व्यथित हो जाते हैं, लेकिन व्यथित होते हैं वे ही, जिनमें काम-विकार का कुछ भी अंश शेष है, जो अपने में से, काम-विकार को पूर्णतया नहीं निकाल सके हैं। जिन महापुरुषों के हृदय में किंचित् भी काम विकार शेष नहीं रहा है, उनके समीप, कामोत्पादक समस्त चेष्टायें व्यर्थ हैं। भगवान अरिष्टनेमि में, काम-विकार का थोड़ा भी अंश शेष नहीं था, इस कारण उनके सामने की गई सब चेष्टायें, निष्फल थीं। वह चेष्टा, वृद्धि

करती तो किस की! जब मूल ही नहीं है, तब वृद्धि किस की होती! इसलिए कृष्ण की रानियों द्वारा बहुत चेष्टा की जाने पर भी, भगवान में विवाह करने की इच्छा नहीं हुई। वे तो, स्वाभाविक प्रसन्नता के साथ यह विचार कर रहे थे, कि मोह-विकल प्राणी कैसे कैसे कार्य करने लगता है!

अपना सब प्रयत्न निष्फल देखकर, कृष्ण की रानियों को बड़ी निराशा हुई। अन्त में, उन सबने मिलकर, भगवान को घेर लिया और भगवान से कहने लगीं—देवरजी, आज आपके सब भाई तो अपनी अपनी पत्नी के साथ हैं, किसी के एक पत्नी है, किसी के अनेक पत्नी हैं, लेकिन आप बिना पत्नी के ही हैं, यह देखकर हमें बहुत दुःख हुआ। पुरुष की शोभा, स्त्री के बिना नहीं हो सकती। जो संसार-व्यवहार से अलग हैं, उनकी बात तो दूसरी है, लेकिन जिसने गृह-संसार नहीं त्यागा है, उस पुरुष के, यदि अधिक नहीं, तो एक पत्नी होना तो आवश्यक ही है। आज, यदि आप भी पत्नी सहित होते, तो आपको भी आनन्द मिलता और हमें भी प्रसन्नता होती। इसलिए हमारी इच्छा है, कि अब आप शीघ्र ही विवाह कर लें। आपके अब तक अविवाहित रहने से, लोग आपके और यदुकुल के विषय में, न मालूम क्या क्या बातें कहते होंगे। उन सब का परिहार करने के लिए भी, आप अधिक नहीं तो एक विवाह तो अवश्य कीजिये। सम्भव है, कि आपको अपने गुरुजनों

से अपना विवाह करने का विचार प्रकट करने में संकोच हो, इसलिए आप हमें ही स्वीकृति दे दीजिये। हम, आपके विवाह का सब प्रबन्ध करा देंगी और आपके लिए ऐसी सुन्दर पत्नी खोज देंगी, कि जैसी सुन्दर पत्नी, आपके समवयस्क यादवों में से किसी को भी प्राप्त नहीं हुई है।

इस तरह वे सब, भगवान से बार बार कहने लगीं, लेकिन भगवान पर, उनके कथन का कोई अनुकूल प्रभाव न हुआ। भगवान के विचारों में, किंचित् भी अन्तर न आया। भगवान को इस प्रकार दृढ़ देखकर भी, उन सब ने प्रयत्न नहीं त्यागा। वे, भगवान से, बराबर अनुरोध करती ही रहीं। उनका सीमातीत अनुरोध देखकर, मोह की शक्ति का विचार करते हुए भगवान, मुसकराये। भगवान को मुसकराते देखकर, कृष्ण की रानियाँ कहने लगीं, बस बस, कार्य सफल हो गया; देवरजी ने हमारा अनुरोध मानकर, विवाह करना स्वीकार कर लिया।

कृष्ण की रानियों ने, सब के आगे यह प्रसिद्ध कर दिया, कि देवर अरिष्टनेमिजी ने विवाह करना स्वीकार कर लिया है। उन्होंने, कृष्ण के पास आकर उनसे भी यही कहा, कि हम देवरजी से विवाह करना स्वीकार करा आईं। अब आप उनका विवाह कर दीजिए। कृष्ण को, अपनी रानियों से यह सुनकर बहुत प्रसन्नता हुई। बलदेवजी प्रभृति दूसरे यादव भी, यह समाचार जानकर बहुत आनन्दित हुए।

समस्त यादवों और यादव-नारियों सहित श्रीकृष्ण, रैवतगिरि से द्वारका आये। उन्होंने, वसुदेव, देवकी, समुद्रविजय, शिवादेवी प्रभृत्ति को भी यह समाचार सुनाया, कि भाई अरिष्टनेमि ने विवाह करना स्वीकार कर लिया है। इन सब को भी, यह शुभ समाचार सुनकर, बहुत प्रसन्नता हुई।

सगाई

सांसारिक-स्वार्थ के वश में हुआ मनुष्य, सब कुछ कर डालता है। वह, नीच से नीच कार्य करने में भी नहीं हिचकिचाता। नीति और धर्म को ठुकरा देता है, सत्य तथा न्याय को दूर भगा देता है और सहिष्णुता एवं सहृदयता का गला घोंट देता है। स्वार्थ के लिये मनुष्य, हिंसा, झूठ, चोरी आदि महान् पाप करने में भी संकोच नहीं करता। वह, दीन पशु-पक्षियों को मार डालता है, निरपराधी मनुष्यों का कत्ल कर देता है, यहाँ तक कि अपने आत्मीयजनों को भी, मृत्यु के मुख में भेज देता है और यह सब करता है, स्वार्थ के लिए। बहुत से लोग तो, स्वार्थ-नाश के कारण, आत्म हत्या भी कर डालते हैं, दूसरे पापों की तो गणना ही क्या है!

भगवान अरिष्टनेमि ने, शंख बजाने आदि का जो कार्य किया था, वह, हिंसा को चुनौती और अहिंसा के प्रचार के अवसर का

आह्वान करने के लिए था; किसी का राज्य छीनने, किसी को कष्ट में डालने, या किसी से अपने को अधिक बलवान सिद्ध करने के लिए न था, फिर भी श्रीकृष्ण को यह सन्देह हो गया, कि कहीं ये मेरा राज्य न छीन लें! इस कारण, कृष्ण को स्वार्थ रक्षा की चिन्ता हो गई। इस चिन्ता से मुक्त होने के लिए, उन्हें, अपनी रानियों की सहायता लेनी पड़ी। अपने पति को चिन्ता मुक्त करने के लिए, श्रीकृष्ण की रानियों ने भी, भगवान अरिष्टनेमि से विवाह करना स्वीकार कराने के लिए बहुत प्रयत्न किया, परन्तु जब उन्हें सफलता न मिली, तब उनने प्रभु के मुसकराने पर झूठ-मूठ ही यह प्रसिद्ध कर दिया, कि अरिष्टनेमि जी ने विवाह करना स्वीकार कर लिया है।

यद्यपि 'अरिष्टनेमिजी ने विवाह करना स्वीकार कर लिया है' यह सर्वथा झूठ प्रसिद्ध किया गया था, परन्तु महापुरुष, बुराई में से भी अच्छाई निकालते हैं। इसके अनुसार श्रीकृष्ण की रानियों द्वारा ऐसी झूठी खबर फैलाई जाने पर भी, भगवान अरिष्टनेमि मौन ही रहे, उनके कथन का विरोध नहीं किया। वे तो सोचते थे, कि यह जो कुछ भी हो रहा है, वह सब मेरे उद्देश्य की सिद्धि में सहायक ही होगा।

रेवतगिरि से लौट कर, श्रीकृष्ण वासुदेव, महाराजा समुद्रविजय और महारानी शिवादेवी के पास गये। उन्होंने, महाराजा समुद्र-

विजय और महारानी शिवादेवी से कहा, कि—आपने मुझ पर जिस कार्य का भार रखा था, आपके आशीर्वाद से उस कार्य में सफलता प्राप्त हुई है और भाई अरिष्टनेमि ने, विवाह करना स्वीकार कर लिया है। अब, उनके अनुरूप योग्य कन्या खोजकर, शीघ्र ही उनका विवाह कर देना उचित है। विलम्ब करने पर, सम्भव है कि भाई अरिष्टनेमि का विचार बदल जावे और स्वीकृति प्राप्त करने में किया गया सफल प्रयत्न, व्यर्थ होवे।

श्रीकृष्ण का कथन सुनकर, महारानी शिवादेवी और महाराजा समुद्रविजय बहुत प्रसन्न हुए। वे, आनन्दित होकर "हमारा चिरकालीन मनोरथ पूर्ण होगा और हम, पुत्र अरिष्टनेमि का विवाहोत्सव देख, अपनी आँखों को सफल करेंगे" आदि सुन्दर भविष्य की कल्पना करने लगे। फिर प्रसन्नता का आवेग कम होने पर, उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा, कि वत्स, तुम ऐसे धुरन्धर नीतिज्ञ और कार्य कुशल के लिए, कोई भी कार्य कठिन नहीं है। अरिष्टनेमि से विवाह करना स्वीकार कराकर, तुमने हमारी सूखती हुई आशा-लता को हरी बना दिया है। हम, तुम्हें कोटिशः आशीर्वाद देते हैं; लेकिन अरिष्टनेमि से विवाह करना स्वीकार कराकर ही, तुम अपने को कृतकार्य मत मानो। यह न समझो, कि मेरे पर जो भार था, वह उतर गया। तुम्हारा दायित्व तो तभी पूर्ण होगा. जब अरिष्टनेमि का विवाह हो जावेगा। योग्य कन्या खोज कर

अरिष्टनेमि का विवाह करने का भार भी, तुम पर ही है। तुम्हारे होते, किसी दूसरे पर इस कार्य का बोझ डालना, सर्वथा अनुचित है। अतः जिस प्रकार तुमने अरिष्टनेमि से स्वीकृति लेने का कार्य किया है, उसी प्रकार, योग्य कन्या के साथ अरिष्टनेमि का विवाह भी कर दो। अरिष्टनेमि के विवाह का भार, हम पर, या किसी और पर मत डालो।

महाराजा समुद्रविजय और महारानी शिवादेवी का कथन सुनकर, श्रीकृष्ण ने हँसते हुए कहा, कि-आपकी आज्ञा का पालन करने के लिए मैं सदैव तत्पर हूँ। मैं, आपकी इस आज्ञा का भी पालन करूँगा। यह कहकर, और दोनों से आशीर्वाद लेकर, श्रीकृष्ण अपने महल को आये।

अब वे, अरिष्टनेमि के योग्य कन्या का विचार करने लगे। इसके लिए उन्होंने, अपने परिवार के प्रमुख-प्रमुख पुरुष स्त्रियों की एक सभा की और उस सभा के सन्मुख, यह विषय विचारणार्थ रखा, कि अरिष्टनेमि का विवाह किस कन्या के साथ किया जावे! श्रीकृष्ण की पटरानी सत्यभामा भी, उस सभा में उपस्थित थीं। सत्यभामा कहने लगीं, कि देवरजी के सर्वथा योग्य कन्या मैं बता सकती हूँ, परन्तु मुझे यह विचार होता है, कि कहीं आप लोग वह कन्या बताने में, मेरा कुछ स्वार्थ न समझ बैठें।

श्रीकृष्ण — ऐसा समझने का तो कोई कारण नहीं है। प्रत्येक

मनुष्य विशेषतः अपने पक्ष के मनुष्यों को ही जानता है, दूसरे को वह क्या जाने ! इसके अनुसार जो भी कोई कन्या बतावेगा, वह कन्या किसी न किसी रूप में बतानेवाले के पक्ष की ही होगी ! यदि सब लोग तुम्हारी तरह विचार कर लें, तब तो कोई भी व्यक्ति अरिष्टनेमि के योग्य कन्या न बता सकेगा ! इसलिए यह विचार छोड़ो और कौन कन्या है, यह बताओ। यदि कन्या योग्य हुई, तब तो तुम्हारा स्वार्थ होने पर भी कोई बुराई नहीं है, और यदि कन्या ही योग्य न हुई, तो तुम्हारा स्वार्थ न होना भी किसी काम का नहीं है।

सत्यभामा – मेरी समझ से, मेरी बहन राजमती, देवरजी के योग्य है।

सत्यभामा की बात का, महारानी शिवादेवी, देवकी आदि ने भी समर्थन किया। सभी यह कहने लगीं, कि वास्तव में राजमती सब प्रकार से अरिष्टनेमि की पत्नी बनने योग्य है। वह सुन्दरी भी अप्रतिम है, और गुण-लक्षण-सम्पन्ना भी है। उसकी, जितनी भी प्रशंसा की जावे, कम है।

श्रीकृष्ण ने विचार किया, कि पहले तो राजमती इन सब के कथनानुसार, प्रत्येक दृष्टि से अरिष्टनेमि के योग्य है ही। दूसरे, राजमती, माता देवकी की बहन होने के नाते मेरी मौसी होती है; और सत्यभामा की बहन होने के नाते, मेरी साली होती है। वह

माता तथा पत्नी, दोनों की ओर से मेरे सम्बन्ध में ही है और तीसरा सम्बन्ध अनुजवधू का हो जावेगा। इन तीनों सम्बन्ध के कारण, राजमती के हृदय में किसी भी समय मेरे विरुद्ध विचार न होगा, और जब राजमती के हृदय में मेरे विरुद्ध विचार न होगा, तब वह अरिष्टनेमि के हृदय में भी मेरे अनुकूल भाव ही भरेगी, विरुद्ध भाव उत्पन्न ही न होने देगी। इस प्रकार अरिष्टनेमि की ओर से, मेरे विरुद्ध विद्रोह करने की आशंका ही न रहेगी। अतः अरिष्टनेमि का विवाह, राजमती के साथ होने में, सब तरह से अच्छाई ही है।

इस प्रकार विचार कर, श्रीकृष्ण ने, वहाँ उपस्थित और सब लोगों से भी सत्यभामा के कथन, तथा देवकी, शिवादेवी आदि के समर्थन के विषय में सम्मति ली। सभी ने, सत्यभामा का प्रस्ताव और इस सम्बन्ध को उचित बताया। किसी ने, किंचित् भी विरोध नहीं किया। श्रीकृष्ण तो, सत्यभामा की बात सुनकर ही भगवान अरिष्टनेमि का विवाह राजमती के साथ करने का विचार कर चुके थे, इसलिए सबको सत्यभामा के प्रस्ताव से सहमत देख, वे प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा, कि यद्यपि अपने घर में तो अरिष्टनेमि का विवाह राजमती के साथ होने में सब सहमत हैं, परन्तु राजमती के साथ अरिष्टनेमि का विवाह करना, अपने ही हाथ की बात तो नहीं है! जब तक राजमती, और उसके माता-पिता भी इससे

सहमत न हो जावें, तब तक मैं जो कुछ सोच रहा हूँ, वह भी व्यर्थ है, और इन सब की सम्मति भी व्यर्थ है ! यद्यपि ऐसा कोई कारण तो नहीं दिखता, कि जिससे राजमती, अरिष्टनेमि की पत्नी बनना स्वीकार न करे, या राजमती के माता-पिता, अपनी पुत्री का विवाह अरिष्टनेमि के साथ करना उचित न समझें, फिर भी इस कार्य को दूसरे के भरोसे छोड़ना ठीक नहीं। अरिष्टनेमि के साथ राजमती का विवाह करने का प्रस्ताव लेकर, यदि कोई दूसरा व्यक्ति उग्रसेन के पास गया, और उग्रसेन ने उसे अस्वीकार कर दिया, तो फिर इस विषय में कुछ करते न बनेगा। उस दशा में, उग्रसेन के पास मेरा जाना भी अच्छा न होगा। इसलिए किसी दूसरे को उग्रसेन के पास भेजने की अपेक्षा, मेरा स्वयं का उग्रसेन के पास जाना अच्छा होगा। उग्रसेन, मेरे ससुर हैं, और मेरे द्वारा किये गये उपकार से दबे हुए हैं। अतः वे, मेरे द्वारा उपस्थित किये गये प्रस्ताव को कदापि अस्वीकार न कर सकेंगे, और जब मैं स्वयं जाऊँगा, तब राजमती को भी अरिष्टनेमि की पत्नी बनने के लिए सहमत कर लूँगा।

यों दीर्घ विचार करके कृष्ण, वहाँ उपस्थित सब लोगों से और विशेषतः महाराजा समुद्रविजय तथा महारानी शिवादेवी से कहने लगे, कि – भाई अरिष्टनेमि के विवाह में, विलम्ब अवांछनीय है। इस कार्य में, जितनी भी शीघ्रता हो, अच्छा है; लेकिन यदि राज-

मती की याचना करने के लिए उग्रसेन के यहाँ कोई दूसरा व्यक्ति गया, और उग्रसेन तथा राजमती ने कोई दूसरा उत्तर दिया, तो स्वाभाविक ही विलम्ब होगा। इसलिए मैं यह उचित समझता हूँ, कि किसी दूसरे को उग्रसेन के यहाँ भेजने के बदले, मैं स्वयं ही जाऊँ। अपने प्रिय भाई के लिए, मैं याचक बनकर उग्रसेन के यहाँ जाऊँ, इसमें किसी प्रकार की बुराई नहीं है, और जब मैं स्वयं याचक बनकर जाऊँगा, तब उग्रसेन को मेरी याचना पूरी करनी ही पड़ेगी। यदि उग्रसेन, या राजमती ने इस विषय में कोई बात उठाई भी, तो मैं उसका समाधान भी कर सकूँगा।

नीतिज्ञ कृष्ण की बात, कौन अस्वीकार कर सकता था! सबने उनके इस कथन का भी समर्थन किया। अपनी बात से सबको सहमत देखकर, श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए, और सभा विसर्जन हुई।

कृष्णजी, उग्रसेन के यहाँ पहुँचे। महाराजा उग्रसेन, अपने जामात और तीन खण्ड के स्वामी कृष्ण को अनायास अपने यहाँ आया देखकर, बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने, कृष्ण का बड़ा स्वागत-सत्कार किया। कृष्ण ने भी, उनका उचित अभिवादन किया। कुशल-प्रश्न हो चुकने पर, कृष्ण, उग्रसेन के रनवास में अपनी सासू से मिलने के लिए गये। अपनी सासु से मिलकर कृष्ण ने, बहुत प्रसन्नता प्रकट की। वे, उग्रसेन के रनवास में विशेषतः राजमती को देखने के लिए ही गये थे। उनका यह उद्देश्य पूरा

होने में, विलम्ब न लगा। राजमती ने जब यह सुना, कि श्रीकृष्ण आये हैं और माता के पास बैठे हैं, तब वह भी अपनी माता के पास, श्रीकृष्ण से मिलने के लिए आई। उसने, श्रीकृष्ण का अभिवादन किया और श्रीकृष्ण ने, उसे आशीर्वाद दिया। राजमती को देखकर, श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए। वे अपने मन में कहने लगे, कि वास्तव में यह सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमा, अरिष्टनेमि की पत्नी बनने के सर्वथा योग्य है। मैंने, अब तक मानवी रूप में सरलता के दर्शन नहीं किये थे। राजमती के देखने से, यह अपूर्णता मिट-सी गई।

कृष्ण, थोड़ी देर तक अपनी सासू के पास बैठे बातें करते रहे। उन्होंने, उतनी ही देर में राजमती की नम्रता, सरलता और व्यवहार-कुशलता आदि बातें जान लीं। फिर वहाँ से उठकर, वे उग्रसेन के पास आये। श्रीकृष्ण को ऊँचे आसन पर बैठाकर, उग्रसेन, नम्रता-पूर्वक उनसे कहने लगे, कि – आज मेरा अहोभाग्य है, जो आप मेरे यहाँ पधारे। आपने यहाँ पधारने का कष्ट करके, मेरा गौरव बढ़ाया है। सेवक के यहाँ स्वामी का आगमन, अत्यन्त मंगलदाता होता है। यदि मेरे योग्य कोई सेवा हो, तो आज्ञा करिये। मैं आपकी कुछ सेवा कर सका, तो स्वयं को बहुत ही भाग्यशाली समझूँगा।

उग्रसेन का कथन सुनकर, कृष्ण ने, इस अवसर को अपने

प्रयोजन की वातचीत छेड़ने के लिए उपयुक्त समझा। उन्होंने, उग्रसेन के कथन के उत्तर में कहा, कि – मैं आपके यहाँ याचक बनकर आया हूँ। मुझे विश्वास है, कि आप मेरी याचना अवश्य पूरी करेंगे।

उग्रसेन – यह तो मेरे लिए, और भी अधिक सौभाग्य की बात है, कि तीन खण्ड के स्वामी मेरे सामने याचक बनें, और मैं दाता बनूँ! आप, मुझसे क्या माँगना चाहते हैं? आप जो कुछ माँगना चाहते हों, निःसंकोच मांगिये। यदि आप मेरा सर्वस्व, और यहाँ तक कि मेरे प्राण भी मांगेंगे, तो मैं, वह भी देने के लिए प्रस्तुत हूँ। आप याचक बनकर आवें, और मैं आपको निराश लौटाऊँ, यह कदापि सम्भव नहीं। आप जैसा याचक, फिर कब मिलेगा! कहिये, आप किस वस्तु की याचना करना चाहते हैं?

कृष्ण – आपके शुभाशीर्वाद से, मेरे यहाँ वस्तुओं की तो कमी नहीं है, यदि कमी है, तो केवल एक मानवी (स्त्री) की, और वह कमी, जब तक आप दाता न बनें, तब तक पूरी नहीं हो सकती।

उग्रसेन – आपके यहाँ स्त्रियों की कमी! आप यह क्या कह रहे हैं?

कृष्ण – मैं अपने लिए नहीं, किन्तु अपने छोटे भाई अरिष्टनेमि के लिए, आपसे राजमती की याचना करता हूँ।

कृष्ण की बात सुनकर, उग्रसेन बहुत ही प्रसन्न हुए। उनका रोम रोम विकसित हो उठा। उनकी प्रसन्नता, उनकी आकृति पर

स्पष्ट झलकने लगी। चतुर कृष्ण को, उग्रसेन की प्रसन्नता देखकर, अपना उद्देश्य पूरा हुआ समझने में, किंचित् भी देर न लगी।

प्रसन्नता को दबाकर उग्रसेन, कृष्ण से कहने लगे, कि यादव-राज, आपने केवल मेरा गौरव बढ़ाने के लिए ही, मुझसे राजमती की याचना की है, और आप स्वयं याचक बनकर आये हैं; तथा वह भी चरमशरीरी भगवान अरिष्टनेमि के लिए! सचमुच आपने, मुझपर बड़ा ही उपकार किया है। राजमती के कारण, मैं जिस सम्मान का पात्र बनाया जा रहा हूँ, वह वर्णनातीत है। भगवान अरिष्टनेमि के लिए, आप राजमती की याचना करें, और मैं उसे अस्वीकार करूँ, यह कैसे सम्भव है! ऐसा सुयोग खोने की मूर्खता कौन करेगा! मैं तो, बहुत पहले से ही भगवान अरिष्टनेमि के साथ राजमती का विवाह करने की बात सोच रहा था, परन्तु मैंने सुना था, कि भगवान अरिष्टनेमि विवाह करना ही स्वीकार नहीं करते। इसी कारण मैंने, अपना यह विचार पूरा करने का प्रयत्न नहीं किया था; लेकिन सौभाग्य से मुझे, यह दुर्लभ सुयोग देने के लिए, आपने स्वयं पधारने की कृपा की। यद्यपि आपका यह प्रस्ताव, इसी समय मान लेने में मुझे किंचित् भी संकोच न करना चाहिए, परन्तु परिवार के लोगों की, और विशेषतः राजमती की सम्मति लिए बिना ऐसा कर डालना, अनुचित होगा। परिवार के और लोगों की सम्मति की तो मैं कदाचित उपेक्षा भी करदूँ,

लेकिन राजमती की सम्मति लेना तो आवश्यक ही है। राजमती की सम्मति जाने बिना, आपका प्रस्ताव मान लेना, राजमती के साथ घोर अन्याय करना है। कैसा भी अच्छा घर-वर हो, फिर भी कन्या की सम्मति तो जाननी ही चाहिए। मुझे पूर्ण विश्वास है, कि राजमती का विवाह भगवान अरिष्टनेमि के साथ करने में, परिवार के सभी लोग सहमत होंगे, और राजमती भी भगवान अरिष्टनेमि की पत्नी बनने में प्रसन्नता तथा सद्भाग्य ही मानेगी। फिर भी मैं, उनकी स्पष्ट सम्मति जानने से पूर्व, आपको कोई निश्चित् उत्तर नहीं दे सकता। आप कुछ देर ठहरिये, मैं सबकी सम्मति जानकर निश्चित् उत्तर देता हूँ।

कृष्ण – आपका कथन यथार्थ है। ऐसे कार्य में, परिवार के लोगों की सम्मति लेना उचित है, और कन्या की सम्मति लेना तो अत्यन्त आवश्यक है। कन्या की सम्मति लिए बिना, किसी पुरुष के साथ उसका विवाह करना, उस कन्या की हत्या करना है। शीघ्रता की कोई बात नहीं है, आप सबकी सम्मति लेकर उत्तर दीजिए। कन्या की इच्छा के विरुद्ध उसका विवाह करना-कराना, महान् पाप है। इस पाप से बचने में ही कल्याण है।

उग्रसेन – एक बात और है। सबकी सम्मति मिल जाने पर भी, मैं आपकी याचना तभी पूरी करूँगा, जब आप मुझ पर एक बात की कृपा और करेंगे।

कृष्ण – वह कौनसी बात ?

उग्रसेन – जिस तरह आप दूसरी कन्याओं को अपने यहाँ बुलवाकर, फिर उनके साथ विवाह करते हैं, उस तरह मैं राजमती को न दूँगा, किन्तु जब भगवान अरिष्टनेमि मेरे यहाँ बारात जोड़ कर आवेंगे, और मैं उनके साथ राजमती का विवाह कर दूँगा, तभी राजमती मेरे यहाँ से आपके यहाँ जावेगी।

कृष्ण – ऐसा करने में, आप क्या लाभ सोचते हैं ?

उग्रसेन – मैं चाहता हूँ, कि आप तो मेरे यहाँ याचक बनकर आये ही, भगवान अरिष्टनेमि भी मेरे यहाँ याचक बनकर आवें, और मैं उन्हें कन्या दान करूँ। इसके सिवा, राजमती मेरी सबसे छोटी कन्या है। मुझे, उससे बहुत स्नेह है। मैं, उसका विवाह धूमधाम से करना चाहता हूँ और वर को अपने यहाँ बुलाकर, उनके हाथ में राजमती का हाथ सौंपना चाहता हूँ। इसलिए आपसे यही प्रार्थना करता हूँ, कि जिस प्रकार आपने राजमती की याचना करके मुझे गौरवान्वित किया है; उसी प्रकार मेरी यह प्रार्थना भी स्वीकार करेंगे।

कृष्ण – आपकी यह बात मानने में, मुझे कौनसी आपत्ति हो सकती है ? मैं, आपकी इस बात को प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार करूँगा। मैं तो चाहता ही था, कि कोई ऐसा दाता मिले, जो अपने घर बुलाकर कन्या दान करे; परन्तु न मालूम कोई क्यों नहीं बुलाता।

सम्भवतः लोग मेरा विशाल परिवार देखकर, और उसका स्वागत-सत्कार करने में अपने को असमर्थ समझकर ही, हमें कोई अपने यहाँ नहीं बुलाता। हर्ष की बात है, कि आपने यह साहस तो किया।

उग्रसेन – आपको धन्य है। आपकी कृपा होने पर, किस बात की इच्छा अपूर्ण रह सकती है!

कृष्ण – यह आपकी उदारता है, कि आप मेरे लिए ऐसा कह रहे हैं।

कृष्ण को बैठाकर उग्रसेन, अपने रनवास में आये। उन्होंने, अपनी रानी और अपने परिवार के लोगों तथा हितैषियों को, अपने पास बुलाया। सबके आजाने पर उग्रसेन ने, कृष्ण द्वारा की गई भगवान अरिष्टनेमि के लिए राजमती की याचना का वृतान्त सबको सुनाया, और सबसे इस विषय पर अपनी-अपनी सम्मति प्रकट करने को कहा। उग्रसेन द्वारा कृष्णागमन का उद्देश्य सुनकर, सब लोग आनन्दित हुए। सभी कहने लगे, कि ऐसे अनुपम सुअवसर को सफल करने का विरोध कौन अभागा करेगा! राजमती, बड़ी भाग्यशालिनी है, इसीसे उसको याचना करने को स्वयं तीन खण्ड के स्वामी आये हैं, और उसे, भगवान तीर्थंकर की अर्द्धांगिनी बनने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है।

कृष्ण की याचना पूरी करने, और राजमती का विवाह भगवान

अरिष्टनेमि के साथ होने में सब लोग सहर्ष सहमत हैं, यह जानने के पश्चात् उग्रसेन ने अपना वह प्रतिबन्ध भी सब लोगों को कह सुनाया, जो उन्होंने श्रीकृष्ण की याचना पूरी करने के विषय में लगाया था। साथ ही उन्होंने यह भी बताया, कि श्रीकृष्ण ने मेरा यह प्रतिबन्ध मानकर, बारात के साथ भगवान अरिष्टनेमि को यहाँ लाना स्वीकार कर लिया है। उग्रसेन की यह बात सुनकर, सब लोगों ने उग्रसेन की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा की, और उन्हें धन्यवाद दिया।

सबके शान्त हो जाने पर, उग्रसेन फिर कहने लगे, कि अपन सब तो एक मत हो गये, परन्तु केवल मेरे आपके विचारों से ही कुछ नहीं हो सकता। मेरी और आपकी सभी आशा तभी पूर्ण हो सकती है, जब राजमती भी भगवान अरिष्टनेमि के साथ विवाह करना स्वीकार करले।

राजमती की माता – ऐसे महापुरुष की पत्नी बनने के सौभाग्य को ठुकराने की मूर्खता, राजमती कदापि नहीं कर सकती। उसे सहमत करने का भार, मैं अपने ऊपर लेती हूँ।

उग्रसेन – यह तो ठीक है, परन्तु राजमती को सहमत करने का भार आप लेती हैं इस आधार पर, उसकी सम्मति जानने से पूर्व ही उसका विवाह-सम्बन्ध स्वीकार कर लेना, अनुचित और अन्याय है। राजमती की स्वीकृति पाने के पश्चात् ही, विवाह-सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए।

रानी – आपका कथन न्यायसंगत है। आप थोड़ी देर ठहरिये, मैं अभी ही राजमती की सम्मति जान लेती हूँ।

यह कहकर राजमती की माता, राजमती के भवन में गई। माता को अपने महल में अनायास आई जानकर, राजमती को कुछ विस्मय सा हुआ। उसने, माता का अभिवादन किया, और कहने लगी, कि – माता, आज आप अनायास पधारीं, इससे और आपकी प्रसन्नता से जान पड़ता है, कि आप किसी विशेष कारण से ही पधारी हैं।

माता – राजमती, आज मैं एक शुभ कार्य के विषय में तेरी सम्मति, एवं स्वीकृति लेने आई हूँ।

राजमती – मैं तो अपने को इस योग्य नहीं समझती। मैं, आपको किसी भी विषय में सम्मति या स्वीकृति देने योग्य, कदापि नहीं हूँ।

माता – तेरी यह बात, हृदय को आह्लादित किये बिना नहीं रह सकती। एक सुपुत्री में, अपने माता-पिता के प्रति आदर का जो भाव होना चाहिए, वह तेरे में अच्छी तरह भरा हुआ है। तू, हमारी आज्ञा का उल्लंघन भी कदापि न करेगी यह विश्वास है, फिर भी जिस विषय में तेरी स्वीकृति आवश्यक है, उसमें तो तेरी स्वीकृति लेनी ही पड़ती है।

राजमती – ऐसी कौनसी बात है, जिसके लिए मेरी स्वीकृति आवश्यक है?

माता — वह बात है तेरे विवाह की। इस विषय में तेरी स्वीकृति न लेना अन्याय है, इसीलिए महाराजा ने मुझे तेरे पास भेजा है। द्वारकाधीश श्रीकृष्ण, अपने छोटे भाई अरिष्टनेमि के लिए तेरी याचना करने आये हैं; परन्तु तेरी स्वीकृति के बिना, उनकी याचना कैसे मान ली जाती ? यद्यपि महाराजा ने, उनकी मांग पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया है, कि भगवान् अरिष्टनेमि को बारात के साथ मेरे घर पधारना होगा, और वहीं पर मैं उनके साथ राजमती का विवाह करूंगा; फिर भी यह प्रतिबन्ध रखा है तेरी स्वीकृति के अधीन। अतः इस विषय में, तू अपनी स्वतन्त्र सम्मति प्रकट कर। तुझे, यह विचार लाने की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है, कि पिताजी ने जो प्रतिबन्ध लगाया है, उसपर से उनकी इच्छा मेरा विवाह अरिष्टनेमि के साथ करने की जान पड़ती है; अतः मेरे को भी, पिताजी की इच्छानुसार अरिष्टनेमि से विवाह करना स्वीकार कर लेना चाहिए। तू, प्रत्येक बात पर दूरदर्शिता से विचार कर। विवाह, तेरा होगा। सुख-दुःख तुझे भोगना पड़ेगा। इसलिए अपनी सम्मति प्रकट करने में, किसी प्रकार का संकोच मत कर।

माता की बात सुनकर राजमती, बहुत ही हर्षित हुई। उसकी आँखों के सामने, वह मोहिनी सूरत आ खड़ी हुई, जो उसने किसी समय देखी थी और जो स्मृति में थी। अरिष्टनेमि के प्रति प्रेम का

वह अंकुर विकसित हो उठा, जो किसी समय उत्पन्न हुआ था और उसके हृदय में सूक्ष्म रूप से विद्यमान था। वह, लज्जा के भाव से झुक गई; माता के प्रश्न का कुछ उत्तर न दे सकी। अपनी आँखें नीची करके राजमती, अपने मन में अनेकों संकल्प-विकल्प करने लगी। उसके हृदय में, आनन्द की तरंगों ने उथल-पुथल सी मचा दी। वह, उसी मानसिक आनन्द के सागर में गोते लगाने लगी, सामने कौन है, इस बात को थोड़ी देर के लिए बिलकुल ही भूल गई।

राजमती की आकृति से तो उसकी माता ने समझ लिया, कि राजमती को अरिष्टनेमि के साथ विवाह करना स्वीकार है; फिर भी, राजमती की स्पष्ट स्वीकृति लेना आवश्यक था। इसलिए उसने राजमती से कहा — पुत्री, क्या तू इस विषय में अब तक विचार नहीं कर पाई? यदि अभी तेरा विचार अपूर्ण हो, तो मैं फिर आऊँ। महाराजा मेरी प्रतीक्षा में ठहरे हुए हैं; इसलिए मुझे शीघ्र जाना आवश्यक है।

राजमती — माता, इस विषय में मुझे विचार ही क्या करना है? आप जिस किसी पुरुष के साथ मुझे भेजें, आपकी आज्ञा मानना मेरा कर्तव्य है; फिर आप तो मुझे एक ऐसे पुरुष की सहचारिणी बना रही हैं, जिसके समान संसार में दूसरा कोई पुरुष है ही नहीं, और जो मेरे हृदय में पहले से ही यत्किंचित् स्थान कर चुका है। आपकी यह उदारता है, कि आप ऐसे महापुरुष

के साथ मुझे सौंपना चाहती हैं; फिर भी मेरी स्वीकृति ले रही हैं। सर्वथा उचित कार्य करती हुई भी, आप मुझे, मेरे अधिकार के उपयोग से वंचित नहीं रख रही हैं, और मुझे यह भी विश्वास है, कि मेरी स्वीकृति न होने पर आप इस अत्युत्तम कार्य को भी न करेंगी। आप ऐसी माता के लिए, यही उचित भी है। आप, मातृ-कर्त्तव्य को भली भांति जानतीं, तथा उसका पालन करती हैं।

माता—हाँ तो स्पष्ट कह, कि तुझे भगवान अरिष्टनेमि की पत्नी बनना स्वीकार है, या नहीं ?

राजमती—माता, यह तो मैं पहले ही स्पष्ट कर चुकी हूँ। मैं, ऐसे महापुरुष को अपना पति बनाना क्यों अस्वीकार करूँगी ? मैं, ब्रह्मचर्य के उस ध्येय पर अवश्य पहुंचना चाहती हूँ, लेकिन किसी पुरुष की सहायता से। ऐसा पुरुष, भगवान अरिष्टनेमि के समान दूसरा कौन हो सकता है ? मैं तो, आपके द्वारा द्वारकानाथ की याचना स्वीकार करली जाने में ही कल्याण समझती हूँ।

राजमती की स्वीकृति पाकर, राजमती की माता बहुत ही प्रसन्न हुई। वह, राजमती की प्रशंसा करने लगी और कहने लगी—पुत्री, तू बहुत विचारशीला है। अपने हित-अहित को तू, भली भांति समझती है। तुझे धन्य है, कि तू त्रिलोकीनाथ भगवान तीर्थंकर की धर्मपत्नी बनेगी। साथ ही, जिसकी कोंख से तू उत्पन्न हुई है, वह मैं भी धन्य हूँ।

राजमती की माता, महाराजा उग्रसेन के पास आई। उसने, महाराजा उग्रसेन को वह समस्त बात-चीत कह सुनाई, जो उसके और राजमती के बीच हुई थी। राजमती, भगवान अरिष्टनेमि के साथ विवाह होने में प्रसन्न है, और उसने स्वीकृति भी दे दी है, यह जानकर उग्रसेन बहुत प्रसन्न हुए।

रनवास से लौटकर उग्रसेन, हर्ष-पूर्वक कृष्ण से कहने लगे – द्वारकाधीश, आपकी याचना के विषय में, मैंने सबकी सम्मति जान ली। सभी की सम्मति, सर्वथा अनुकूल है, इसलिए मैं आपकी याचना स्वीकार करता हूँ, परन्तु आप मेरी वह बात न भूलियेगा, जो मैंने भगवान अरिष्टनेमि को बारात लेकर यहाँ पधारने के विषय में कही थी।

श्रीकृष्ण – नहीं नहीं, मैं जो बात एक बार आपके सामने स्वीकार कर चुका हूँ, उसे कैसे भूल सकता हूँ! आपने मेरी याचना अस्वीकार नहीं की, और मुझे निराश नहीं जाने दिया, इसके लिए मैं आपका बहुत उपकार मानता हूँ।

उग्रसेन – यह आपकी महानता है, जो आप मेरे लिए ऐसा कह रहे हैं।

श्रीकृष्ण – अच्छा यह बात तो हुई, परन्तु अब आप कृपा करके यह बताइये, कि बारात के साथ भाई अरिष्टनेमि यहाँ किसी निश्चित दिन और समय पर आवें, या जब भी इच्छा हो तभी चले आवें?

उग्रसेन – विवाह का कोई दिन तो नियत हो ही जाना चाहिए, और उसी दिन बारात आना भी ठीक होगा।

श्रीकृष्ण – हाँ, यही तो मैं भी कहता हूँ। कोई दिन नियत हुए बिना, सुविधा नहीं हो सकती। इसलिए वह दिन भी, अभी ही नियत हो जाना अच्छा है।

उग्रसेन – आपने ठीक कहा। शुभ कार्य में, अनावश्यक विलम्ब भी किस काम का! मैं अभी ज्योतिषी आदि की सम्मति से, विवाह का दिन भी ठीक किये लेता हूँ।

श्रीकृष्ण से यह कहकर उग्रसेन ने, ज्योतिषी को बुलाया। उसकी, तथा परिवार के लोगों की सम्मति से, राजमती और अरिष्टनेमि के विवाह की तिथि श्रावण शुक्ला ६ निश्चित की गई। श्रीकृष्ण ने भी, निश्चित विवाह तिथि को उचित बताकर स्वीकार किया, और यह सब हो जाने पर वे, प्रसन्नतापूर्वक अपने महल को लौट आये।

बारात

महापुरुष, प्रत्येक कार्य उचित और सरल रीति से ही करते हैं। वे, जो आदर्श स्थापित करना चाहते हैं, उसके लिए पहले क्षेत्र तैयार करते हैं, जनता को अपनी ओर आकर्षित करते हैं और फिर उस आदर्श की महानता बताकर, उसे जनता के सन्मुख रखते हैं। इसप्रकार वे, क्रम-क्रम से कार्य करते हैं। सहसा, अपनी विशेष शक्ति का प्रयोग नहीं करते। यदि वे कोई कार्य अपनी विशेष शक्ति द्वारा करें, तो साधारण-जनता के लिए वह आदर्शरूप भी नहीं हो सकता। वह कार्य तो फिर, विशेष शक्तिवाले के करने योग्य ही माना जा सकता है। इसी-लिए महापुरुष, अपने में विशेष शक्ति होते हुए भी, जनता के सामने रखे जाने वाले आदर्श-कार्य को साधारण पुरुष की तरह ही करते हैं। हाँ, वे उस आदर्श कार्य के पीछे, त्याग और तप की शक्ति अवश्य लगा देते हैं। सच्ची बात तो यह है, कि जिस कार्य

के पीछे त्याग और तप की शक्ति नहीं है, वह अच्छा से अच्छा होने पर भी, जनता पर प्रभाव नहीं डाल सकता। वह कार्य, अपने आप को जनता के सन्मुख आदर्श सिद्ध नहीं कर सकता। इसीलिए, किसी आदर्श-कार्य के प्रवर्तक, उस आदर्श कार्य के पीछे अधिक से अधिक तप और त्याग की शक्ति लगा देते हैं। वे, अपने द्वारा किये जाने वाले आदर्श कार्य के लिए, अपना सर्वस्व तक त्याग देते हैं, अपने शरीर तक का ममत्व छोड़ देते हैं; यहाँ तक कि उसके ऊपर, अपने प्राणों तक को न्योछावर कर देते हैं। ऐसा किये विना, उस कार्य की ओर न तो जनता का आकर्षण ही होता है, न उस कार्य की महत्ता ही सिद्ध होती है, और न जनता, उस कार्य को आदर्श रूप मानकर अपनाती ही है।

द्वारका में वसने के पश्चात् यादव लोग, श्रीकृष्ण के अनुशासन में रहकर, दिन प्रतिदिन उन्नत ही हुए थे। उनका गौरव-सूर्य मध्याह्न में तप रहा था। जन, धन, यश, वैभव आदि किसी भी वात में, उनकी वरावरी करनेवाला कोई न था, लेकिन उन्नति से अवनति और अवनति से उन्नति होना, संसार का नियम है। जो वहुत वढ़ा हुआ है, वह गिरता भी है, और जव गिरने लगता है, तव गिरता ही चला जाता है। संसार के इस नियम से, यादव लोग कैसे वचे रह सकते थे? उनमें भी, अवननि के कारण घर कर चुके थे। अधिकांश यादव, जुआ खेलने, मांस खाने, शराव

पीने, और परदारगमन में ही अपना जीवन सार्थक मानने लगे थे। वे, इन दुर्व्यसनों में दिन प्रति दिन अधिकाधिक फँसते जा रहे थे। विवाहादि अवसरों पर तो, ये दुर्व्यसन बहुत ही बढ़ जाते थे। ऐसे अवसरों पर, हजारों लाखों पशु-पक्षियों का निर्दयता-पूर्वक वध कर डाला जाता था। यद्यपि श्रीकृष्ण, अपने परिवार में से इन दुर्व्यसनों को निकालकर उसे अवनत तथा नाश होने से बचाना चाहते थे, परन्तु वे, ऐसा करने में असमर्थ रहे। उनकी राजसत्ता, अपने पारिवारिक लोगों में से नाशकारी दुर्व्यसनों को पूर्णरूपेण न निकाल सकी।

संसार का यह भी नियम है, कि तत्कालीन बड़े माने जाने वाले लोग जो कार्य करते हैं, साधारण जनता भी उस कार्य को अपना लेती है। फिर चाहे वह कार्य अच्छा हो, या बुरा। साधारण जनता, इस बात का विचार नहीं करती; वह तो उन सब कामों को अच्छा ही समझती है, जो उसकी दृष्टि में बड़े माने जाने वाले लोगों द्वारा आचरित हैं। विवेकहीन बनकर, कार्य के औचित्य का निर्णय न करने, और धन, राज्य आदि के कारण किसी को बड़ा मानकर, उस बड़े माने गये व्यक्ति की बुराई को अपना लेने से, कैसी भयंकर हानि होती है, इसके अनेकों उदाहरण आज भी देखने को मिलेंगे।

भगवान अरिष्टनेमि के समय में, भारतवर्ष में यादव लोग, बड़े

आदमी माने जाते थे। अनुकरण करनेवाली जनता, यादवों द्वारा आचरित बुराइयों का अनुकरण करने लगी। धीरे धीरे इसका यह परिणाम हुआ, कि लोगों में से मांसभक्षणादि से घृणा मिट गई। अधिकांश लोग, इन बुराइयों को साधारण कर्तव्य के रूप में अपना बैठे। उनके लिए, मांस भक्षण, मदिरापान, द्यूतक्रीड़ा और परदार-सेवन, ऐसा आवश्यक कार्य हो गया, कि इनके विना जीवन ही व्यर्थ माना जाने लगा।

भगवान अरिष्टनेमि को, लोगों द्वारा होनेवाला यह महान पाप, असह्य हो रहा था। विशेषतः मांस के लिए मारे जाने वाले पशु-पक्षियों की दया, उनके हृदय को करुणार्द्र बना रही थी। वे सोचते थे, कि इन बेचारे मूक पशु-पक्षियों को, लोग केवल अपने आनन्द के लिए मार डालते हैं, और इन्हें दुःखी बनाने के साथ ही, आप भी अपने आत्मा के लिए नरक की सामग्री बना रहे हैं। लेकिन जब तक ऐसे लोगों के सामने, महान त्याग की शक्ति से पूर्ण दया का आदर्श न रखा जावेगा, उन लोगों से यह हिंसा भी न छूटेगी, और मूक पशु-पक्षियों की रक्षा भी न होगी। मुझे उचित है, कि मैं जनता के सन्मुख महान् त्याग का आदर्श रखकर, दीन पशु-पक्षियों की ओर सबका ध्यान आकर्षित करूँ, तथा इस बात का आदर्शपूर्ण उपदेश दूँ, कि विलासी और हिंसापूर्ण जीवन की अपेक्षा, सादगी और संयमपूर्ण जीवन श्रेष्ठ है, और इस प्रकार का जीवन

बनाने के लिए, संसार में सबसे अधिक प्रिय मानी जाने वाली वस्तु भी, त्याग देनी चाहिए। यदि मैं आदर्शहीन उपदेश दूँगा, तो वैसे उपदेश का यथेष्ट प्रभाव कदापि नहीं पड़ सकता। उपदेश का प्रभाव तभी हो सकता है, जब उसके पीछे त्याग की पूर्ण शक्ति हो।

भगवान अरिष्टनेमि, महापुरुष थे, तीर्थंकर थे। इनमें, जन्म से ही अनन्त शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति विद्यमान थी। उनके लिए, कोई कार्य न तो असम्भव ही था, न कठिन ही। वे, लोगों द्वारा होनेवाली जीवहिंसा को, किसी प्रकार का कष्ट उठाये बिना, और त्याग किये बिना भी रोक सकते थे। वे, बलपूर्वक भी हिंसा बन्द करा सकते थे; यत्न द्वारा भी हिंसा रोक सकते थे, और मन तथा आत्मा द्वारा, जनता को मन्त्रमुग्धसा बनाकर भी, हिंसा से विमुख कर सकते थे। लेकिन इसप्रकार रोकी हुई हिंसा का महत्व, बाजीगर के तमाशे से अधिक न होता। जिस प्रकार बाजीगर, संसार के बड़े बड़े और आश्चर्यकारी पदार्थ दिखा देता है, लेकिन वे पदार्थ थोड़ी ही देर तक टिक पाते हैं, उसी प्रकार उक्त उपायों द्वारा रोकी गई हिंसा भी, अधिक से अधिक भगवान अरिष्टनेमि के जीवनकाल तक ही रुकी रहती; अधिक दिन न रुक पाती। क्योंकि, लोगों के हृदय में सूक्ष्म रूप से तो हिंसा विद्यमान ही रहती, निर्मूल न होती और मूल के होने पर, कभी विशाल वृक्ष का होना स्वाभाविक है। हृदय से, हिंसा

के सूक्ष्म संस्कार तब तक कदापि नहीं मिट सकते, जब तक कि अहिंसा का महत्व समझ में नहीं आया है। भगवान अरिष्टनेमि को, अहिंसा का महत्व बताकर ही हिंसा मिटाना अभीष्ट था। इसी कारण उन्होंने, हिंसा को रोकने के लिए अपनी विशेष शक्ति का प्रयोग नहीं किया। क्योंकि, अहिंसा का महत्व लोगों पर तभी प्रभाव डाल सकता था, जनता अहिंसा के आगे तभी नतमस्तक हो सकती थी, जब उसका प्रवर्तक, साधारण पुरुष की तरह उसका महत्व सिद्ध करे, और उसके लिए कुछ त्याग भी करे।

भगवान अरिष्टनेमि ने, अहिंसा का महत्व बताकर हिंसा को रोकने के लिए, सबसे पहले क्षेत्र तैयार किया। कृष्ण के शस्त्रास्त्र की लीला, उन्होंने इसी उद्देश्य से की थी। उस लीला के कारण, समस्त यादव उनकी ओर आकर्षित हो गये थे, लेकिन अभी वह त्याग शेष था, जिसका बल होने पर ही अहिंसा को महत्व मिल सकता था। त्याग की शक्ति से, अहिंसा को बलवती किये बिना, उसका उपदेश पूर्णतः सफल नहीं हो सकता था।

सांसारिक लोगों के लिए और सबका त्याग उतना कठिन नहीं है, जितना कठिन स्त्री का त्याग है, और वह भी युवावस्था में। स्त्री का मोह छूटना, यदि सम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य माना जाता है। बुद्ध, जब अर्धरात्रि के समय अपना घरबार छोड़कर निकलने लगे थे, तब उन्होंने अपनी सोती हुई पत्नी की ओर देखकर कहा था:—

त्यागत हूँ मैं आज आपनो यह यौवन-धन ।
राज-पाट सर्वस्व, बन्धु बान्धव अरु परिजन ॥
सबसों बढ़ि भुजपाश, प्रिये! तव तजत मनोहर ।
जा को तजिबो या जग में है अति ही दुष्कर ॥

इस प्रकार बुद्ध ने भी, स्त्री-त्याग को दुष्कर माना था। भगवान अरिष्टनेमि, अहिंसा का आदर्श रखकर हिंसा को बन्द कराने के लिए, ऐसा ही दुष्कर त्याग आवश्यक समझते थे, लेकिन अभी तो उनके पास इस प्रकार के त्याग के लिए कुछ था ही नहीं, और अप्रत्यक्ष रूप से किये गये त्याग का वह प्रभाव न पड़ता, जो प्रत्यक्ष रूप से किये गये त्याग का पड़ता है। अर्थात्, यदि भगवान अरिष्टनेमि दूल्हा बनकर तोरणद्वार तक जाने से ही इनकार कर देते, तो वह त्याग कुछ इने गिने लोग ही जानते, संसार के सब लोग न जानते। इसीलिए भगवान अरिष्टनेमि ने, विवाह रचना के समय किसी प्रकार का विरोध नहीं दर्शाया।

इस कारण के सिवा, एक और भी कारण ऐसा था, जिससे भगवान अरिष्टनेमि विवाह-रचना का विरोध न कर सके। अपने ज्ञान द्वारा भगवान अरिष्टनेमि, यह जानते थे, कि राजमती मेरे पूर्व के आठ भव में मेरी सहचारिणी रही है। उन आठ भव में उसने, मेरे साथ सब भांति सहयोग किया है। वह, सुख-दुःख में मेरे साथ रही है। अब इस नववें भव में, मैं अपना तो कल्याण

करलूँ, और उसे इस संसारजाल में ही फँसी रहने दूँ, यह ठीक नहीं। कम से कम, मैं उसे सावधान तो करदूँ। यह तो सूचित करदूँ, कि मैं, संसार-व्यवहार त्यागकर आत्मा का कल्याण करने, और अक्षय सुख प्राप्त करने जा रहा हूँ; अतः यदि तू इस भव में भी मेरे से सहयोग करना चाहती है, तो जिस मार्ग को मैं पकड़ रहा हूँ, उसे तू भी अपना। इस विचार से भी भगवान अरिष्टनेमि ने, विवाह की तैयारी में असहमति प्रकट नहीं की थी।

उग्रसेन के यहाँ से लौटकर कृष्ण ने, राजमती का सौन्दर्य, उसकी नम्रता, सरलता तथा अपनी सफलता, और उग्रसेन द्वारा लगाये गये बारात विषयक प्रतिबन्ध का वृत्तान्त, सबको कह सुनाया। साथ ही उन्होंने, विवाह-तिथि से भी सबको परिचित किया। कृष्ण द्वारा कहा गया वृत्तान्त सुनकर, सब लोग बहुत ही आनन्दित हुए, और कृष्ण को बधाई देने लगे।

विवाह-तिथि को दृष्टि में रखकर कृष्ण ने, विवाह की तैयारी करने की आज्ञा दी। सारी द्वारका नगरी सजाई गई। जगह-जगह आमन्त्रण पत्र भेजे गये। राजमहल में स्त्रियाँ, मंगलगान करने लगीं। बाजे बजने लगे और यादव लोग, भगवान अरिष्टनेमि की बारात में जाने की तैयारी करने लगे।

उधर, उग्रसेन भी विवाह तथा बारात के सत्कार की तैयारी में लगे हुए थे। उग्रसेन को यह चिन्ता थी, कि मैंने अपने सिर पर

बड़े भारी कार्य का बोझा लिया है। कृष्ण का परिवार ही बहुत बड़ा है, और कृष्ण तीन खण्ड के स्वामी हैं। अनेक राजागण भी उनके साथ होंगे। इस प्रकार सहज ही, बारात बहुत बड़ी हो जावेगी। यदि मेरी ओर से, बारात का उचित स्वागत सत्कार न बन सका, तो बड़ा उपहास होगा। इस चिन्ता से मुक्त होने के लिए उग्रसेन ने, बारात को ठहराने, बारात के खाने-पीने और उसका स्वागत सत्कार होने आदि का, समुचित और व्यवस्थित प्रबन्ध किया। जगह जगह पर वन्दनवार तथा ध्वजा-पताकाएँ लगाई गई; द्वार एवं मण्डप बनाये गये; यथास्थान, पीने के लिए जल का भी प्रबन्ध किया गया, और जिस मार्ग से बारात आनेवाली थी, वह मार्ग, विशेप रूप से सजाया गया।

इस प्रबन्ध के साथ ही, उग्रसेन ने एक प्रबन्ध और किया था। उग्रसेन, स्वयं भी यादव ही थे, इसलिए वे, यह जानते थे, कि बारातियों को भोजन के साथ मांस की भी आवश्यकता होगी। यदि भोजन के साथ मांस न हुआ, तो अनेक बारातियों को असन्तोप भी रहेगा, और मेरे प्रबन्ध में भी अपूर्णता नजर आवेगी। इसके लिए उन्होंने, अनेकों पशु-पक्षी एकत्रित कराये। घरेलू पशु-पक्षी मूल्य दे देकर खरीदे गये, और वनैले पशु-पक्षी, पकड़वा-पकड़वाकर मँगवाये गये। मांस के लिए वध करने को एकत्रित किये गये पशु-पक्षी, विशाल बाड़े तथा पींजरे के अन्दर बन्द किये

गये और उन्हें खिला-पिलाकर, हृष्ट-पुष्ट किया जाने लगा। जिस वाड़े में मारे जाने वाले पशु-पक्षी बन्द किये गये थे, वह उग्रसेन के महल से कुछ ही दूर, उस मार्ग के ठीक किनारे पर ही था, जिस मार्ग से, बारात तोरणद्वार पर आने वाली थी।

उग्रसेन के महल में भी, बड़ी चहल-पहल मची हुई थी। कहीं मंगलगान हो रहा है, कहीं बाजा बज रहा है, कहीं राजमती से उसकी सखियाँ ठठोली कर रही हैं, और कहीं कुछ स्त्रियाँ बैठी राजमती के भाग्य की सराहना कर रही हैं। इसी प्रकार, कहीं राजमती के लिए वस्त्र तैयार हो रहे हैं, कहीं आभूषण बन रहे हैं, और कहीं दहेज में दी जाने वाली अन्य सामग्री ठीक हो रही है।

विवाह-तिथि समीप जानकर, सुहागिनों द्वारा राजमती को तेल उबटन होने लगा। स्त्रियां, मंगल गाती हुई, राजमती को तेल चढ़ाने और उबटन करने लगीं। राजमती के हृदय में, उस समय, अत्यधिक प्रसन्नता थी। वह, अपने हृदय में, भविष्य विषयक न मालूम क्या क्या कल्पना कर रही थी। विवाह की तिथि जैसे जैसे समीप आ रही थी, राजमती की प्रसन्नता भी, वैसे ही वैसे बढ़ती जा रही थी।

होते होते, विवाह का दिन भी आ गया। बारात की तैयारी होने लगी। हाथी, घोड़े, रथ, पैदल आदि की चतुरंगिणी सेना सजाई गई। यादवगण, बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहनकर, अपने अपने

वाहन पर सवार हुए। प्रस्थान-कालीन मंगलवाद्य, बजने लगे। गायकगण, मंगल-गीत गाने लगे और वन्दीजन, यश उच्चारण करने लगे। भगवान अरिष्टनेमि को भी, दूल्हे के रूप में सजाया जाने लगा।

१०८ सोने के, १०८ चाँदी के, और इतने ही इतने मिट्टी, रत्न, सोना-चाँदी, रत्नस्वर्ण, तांबा-चाँदी, आदि के घड़ों का जल एकत्रित किया गया। उस एकत्रित जल में, अनेक प्रकार की औषधियां डालकर, उस औषध-मिश्रित जल से भगवान अरिष्टनेमि को स्नान कराया गया। फिर उन्हें, सुन्दर तथा वहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया गया, और मुकुट पर मौर बांधा गया। दूलहा-वेश-धारी भगवान अरिष्टनेमि, कैसे शौभायमान दिखते थे, यह वताने के लिए न तो कोई उपमा ही है, न वाणी या लेखनी में ही वर्णन की शक्ति है।

भगवान को दूलह वेश में देखकर, महारानी शिवादेवी, और महाराजा समुद्रविजय के हर्ष का पार न था। वे, अपने हृदय में भविष्य-विषयक अनेकों कल्पनाएं कर रहे थे। वे सोच रहे थे, कि उग्रसेन-कुमारी राजमती, हमारे यहां पुत्रवधू वनकर आवेगी, और उसके द्वारा हमें पौत्र की प्राप्ति होगी; आदि। इसी प्रकार, वसुदेव, देवकी, कृष्ण, सत्यभामा प्रभृति भी वहुत आनन्दित हो रहे थे। कोई किस विचार से आनन्दित हो रहा था, और कोई किस विचार

से । बाराती लोग, इस विचार से ही प्रसन्न हो रहे थे, कि हमें, दीर्घकाल के पश्चात राजपरिवार की बारात में जाने का सुअवसर मिला है ।

भगवान अरिष्टनेमि के बैठने के लिए, श्रीकृष्ण का गंध नामक प्रधान हाथी, अच्छी तरह से सजाया गया था । भगवान, उस हाथी पर विराजे । भगवान पर, छत्र लगा हुआ था, और चंवर ढुल रहे थे ।

बारात में, सब से आगे, चतुरंगिणी सेना, सैनिक बाजा बजाती हुई खड़ी हुई । उसके पीछे, मंगलवाद्य, गायकों और बन्दीजनों का समूह था । फिर वे हाथी घोड़े थे, जिनपर प्रमुख-प्रमुख पाहुने आरूढ़ थे । उनके पीछे, श्रीकृष्ण का वह गंध हाथी था, जिस पर चंवर छत्र धारण किये हुए भगवान अरिष्टनेमि, दूल्हा बने बैठे थे । उस हाथी के दाहिने-बांयें, घोड़ों पर सवार भगवान के शरीर-रक्षक थे । पीछे की ओर, अपने-अपने वाहनों पर समुद्रविजय, वसुदेव, बलदेव, कृष्ण प्रभृति यादव थे, और सब से पीछे, और सेना थी । इस प्रकार, बारात सजाइ गई । यादव परिवार के वृद्ध पुरुष-स्त्रियों ने, भगवान द्वारा कुलाचार की पूर्त्ति कराई । यह सब होजाने पर, बारात ने, गगन भेदी भेरी नाद करके, शुभ मुहूर्त में प्रस्थान किया । झूमते हुए मस्त हाथियों, हिनहिनाते हुए चपल घोड़ों, गूंजते हुए डंकों, और उड़ते हुए निशानों से सुसज्जित भगवान की बारात, पृथ्वी को कंपायमान कर रही थी ।

स्त्रियां, छतों पर बैठकर, और पुरुष, राजमार्ग की दोनों ओर श्रेणि-बद्ध खड़े होकर, वारात देख रहे थे। वारात को देखकर, कोई हाथियों की प्रशंसा करता था, कोई घोड़ों की, कोई रथों की, कोई सेना की, और कोई व्यवस्था की। कोई, श्रीकृष्ण का वैभव देखकर चकित रहता था, कोई, शूर यादवों की ठसक की प्रशंसा करता था, और कोई, यादवों के विशाल परिवार पर आश्चर्य करता था। कोई कहता था, कि वर वहुत ही सुन्दर है, ऐसा सुन्दर वर तो, आज तक किसी भी कन्या ने न पाया होगा। कोई कहता था, वर का रूप-रंग, श्रीकृष्ण के रूप-रंग से वहुत मिलता-जुलता है; कोई अपरिचित व्यक्ति तो, दोनों को देखकर सहोदर भ्राता ही मानेगा। कोई कहता था, हैं भी तो भाई ही, सहोदर भाई में, और चचेरे भाई में अन्तर ही क्या है ? कोई कहता था, श्रीकृष्ण, अपने इन भाई से वहुत स्नेह करते हैं। अपने भाई के लिये वे, स्वयं ही याचक वने थे। कोई कहता था, स्नेह होना स्वाभाविक ही है, योग्य भाई से कौन स्नेह न करेगा !

इस प्रकार सब लोग, वारात और वर को देखकर प्रसन्न होते हुए, अपनी-अपनी दृष्टि और वुद्धि के अनुसार, भिन्न-भिन्न सम्मति प्रकट करते थे। वारात के लोग भी, वड़ी उमंग के साथ दर्शकों की वातें सुनते, और भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टा करते, चले जा रहे थे। कोई महावत, अपने हाथी को अंकुश लगाकर झुमाता जाता था। कोई घुड़सवार, घोड़े को ऐड़ लगाकर, उसे नचाता कुदाता

जाता था। कोई रथी, अपनी मूछों को ऐंठता हुआ, अपनी युगुल बाहु आगे किये बैठा था। बाजा बजानेवाले लोग भी, उत्साह से नया-नया राग बजा रहे थे। गायक गण भी, नव-निर्मित गीतगाते जारहे थे, और बन्दीजन भी, उच्च-स्वर में विरद सुनाते जारहे थे।

भगवान अरिष्टनेमि की बारात, उग्रसेन के महल की तरफ चली जारही थी। विमानों में बैठकर देवता लोग भी, बारात की शोभा देख रहे थे, और दूल्हा रूप में भगवान अरिष्टनेमि का दर्शन करके, प्रसन्न हो रहे थे। शक्रेन्द्र को जब यह ज्ञात हुआ, कि भगवान अरिष्टनेमि विवाह करने के लिये जा रहे हैं, तब उन्हें अत्यधिक आश्चर्य हुआ। वे विचारने लगे, कि पूर्व के इक्कीस तीर्थंकर तो यह कह गये हैं, कि भगवान अरिष्टनेमि बालब्रह्मचारी होंगे; लेकिन भगवान अरिष्टनेमि, दूल्हा बनकर, तथा बारात सजाकर विवाह करने के लिये जारहे हैं, तो क्या पूर्व के तीर्थंकरों की भविष्यवाणी, असत्य होगी? तीर्थंकरों की वाणी तो, कदापि असत्य नहीं हो सकती! इस प्रकार आश्चर्य में पड़कर, शक्रेन्द्र ने, अवधिज्ञान का उपयोग किया। अवधिज्ञान द्वारा शक्रेन्द्र को यह मालूम होगया, कि भगवान, विवाह करने के लिये नहीं जारहे हैं, किन्तु विवाह के बहाने, संसार के सन्मुख एक महान् आदर्श रखने जारहे हैं। यह जानकर शक्रेन्द्र, बहुत ही प्रसन्न हुए। उनके हृदय में भी, स्थूल दृष्टि द्वारा, भगवान की अद्भुत बारात देखने की लालसा होगई।

बारात देखने के लिये शक्रेन्द्र, ब्राह्मण का रूप धारण करके, भगवान की बारात में आये। वे, आकर, श्रीकृष्ण से कहने लगे, कि आप जिस लग्न में अपने भाई का विवाह करने जा रहे हैं, उस लग्न में, आपके भाई का विवाह हो ही नहीं सकता। आपको, किस मूर्ख ज्योतिषी ने यह लग्न बतलाया है? छद्मवेशधारी शक्रेन्द्र की बात सुनकर, और उनकी किसी प्रकार की चेष्टा देखकर, कृष्ण समझ गये, कि ये ब्राह्मण नहीं हैं, किन्तु कोई दूसरे ही हैं। वे, शक्रेन्द्र से कहने लगे—ब्राह्मणदेव, यद्यपि आपका आगमन आनन्ददायक है, और आप जो कुछ कह रहे हैं, वह भी हमारे हित को दृष्टि में रखकर ही कहते होंगे, लेकिन बिना आमन्त्रण आना, और बिना पूछे ही इस प्रकार की बात कहना, मर्यादा-विरुद्ध है। आप, कृपा करके, अनावश्यक सन्देह, या विघ्न डालने की चेष्टा न करिये।

कृष्ण की बात सुनकर, शक्रेन्द्र मुसकराये और कहने लगे, कि मेरा उद्देश्य, सन्देह या विघ्न उत्पन्न करना नहीं है; आप मेरी ओर से, किसी प्रकार की शंका मत करिये। मैंने तो, जो बात मेरी समझ में आई, वह आप से कही है, और अब किसी से वह बात भी न कहूँगा; किन्तु मैं भी यह देखूंगा, कि भगवान अरिष्टनेमि का विवाह किस प्रकार से होता है।

बारात, उग्रसेन के महल से कुछ दूर रही, तब, उग्रसेन, अपने परिवार, सम्बन्धी और सेना सहित, बड़ी धूम से बारात की अगवानी

करने के लिए चले। उग्रसेन के महल से कुछ दूरी पर, बारात और अगवानी के लिए गये हुए लोगों का सम्मिलन हुआ। दोनों ओर के लोग परस्पर मिलने, और एक दूसरे की प्रशंसा करके प्रसन्नता प्रकट करने लगे। महाराज उग्रसेन, दसों भाई समुद्रविजय से, तथा श्रीकृष्ण बलदेव आदि से मिलकर, अपने अहोभाग्य का वर्णन करते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे, और उनका उपकार मानने लगे। इस प्रकार कुछ देर तक, सम्मिलन का दर्शनीय दृश्य रहा, और फिर साथियों सहित महाराजा उग्रसेन, बारात को साथ लेकर तोरणद्वार को चले।

बारात आ रही है, इससे उग्रसेन के महल में बड़ी धूम मची हुई है। राजमती को, उसकी सखियां शृंगार कराने में लगी हुई हैं। शृंगार कराती हुई राजमती की सखियां, परस्पर विवाह-सम्बन्धी हास्यभरी बातें भी करती जारही हैं। एक कहती है, कि- अब तो हमारी राजकुमारी भी उसी तरह शोभा पाने लगेगी, जिस तरह वृक्ष के साथ लता शोभा पाती है।

दूसरी—हां, और फिर हम तुम सब को भी उसी तरह भूल जावेंगी, जिस तरह चन्द्र को देखकर चकोरी, और सब को भूल जाती है।

तीसरी—कहीं ऐसा भी हो सकता है! राजकुमारी, बचपन से जिनके साथ रही है, अपनी उन प्यारी सखियों को कैसे भूल सकती हैं?

चौथी—तू बड़ी मूर्खा जान पड़ती है ! प्रिय सखा के मिल जाने पर, बेचारी सखियों को कौन स्त्री नहीं भूल जाती ?

पांचवीं – और सखा भी कैसा मिला है ! जिसकी समानता करनेवाला, संसार में कोई पुरुष है ही नहीं। ऐसा सखा पाकर, सखियों को भूल जाना स्वाभाविक भी है !

छठी – तुम लोग घवराती क्यों हो ! राजकुमारी, हम तुम को भी अपने साथ ही ले जावेंगी। हमें, राजकुमारी अपने से दूर न करेंगी।

सातवीं – राजकुमारी इतनी भोली नहीं हैं, कि तुम्हें अपने साथ ले जावें। तुम्हें साथ क्यों ले जावें ? तुम, वहां भी ऐसी बातें करके राजकुमारी को लज्जित ही तो करोगी। तुम्हारी बातों से लज्जित होकर राजकुमारी को, अपने प्रिय पति से थोड़ी बहुत देर के लिए और विलग ही तो होना पड़ेगा !

राजमती की सखियां, राजमती को इसी प्रकार की व्यंगभरी बातें सुना रही हैं। अपनी सखियों की बातें सुनकर, राजमती भी मुसकरा रही है। उसके हृदय में अत्यधिक प्रसन्नता है; फिर भी वह, कभी किसी सखी की बात सुनकर रूठ जाती है, किसी पर रुष्ट होने लगती है और किसी से चली जाने का कहती है; लेकिन उसके हृदय की प्रसन्नता, मुसकराहट के रूप में; उसके रूठने और रुष्ट होने की कृत्रिमता प्रकट कर देती है, इस कारण उसकी सखियाँ, और ठठोली-भरी बातें करने लगती हैं।

भगवान की बारात, तोरणद्वार की ओर चली आ रही थी। चलते चलते बारात ऐसे स्थानपर आई, जहां उग्रसेन के महल से भी दिखाई देती थी।

उग्रसेन के महल के गोखड़ों में खड़ी होकर, महल की स्त्रियाँ बारात देखने लगीं। सखियों सहित राजमती भी, बारात को देख रही थी। उसकी दृष्टि, बारात पर नहीं थी, किन्तु बारात के नायक पर थी। बारात के नायक भगवान अरिष्टनेमि का, दूर से ही दर्शन करके राजमती, अपने हृदय में अनेक प्रकार के विचार कर रही थी। वह सोचती थी, कि मैं बड़ी सद्भागिन हूँ, इसीसे मुझे भगवान ऐसे अलौकिक पति की पत्नी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। भगवान की मुझ पर कैसी कृपा है, कि मुझे अपनी अर्धांगिनी बनाकर लेजाने के लिए, स्वयं ने यहां पधारने का कष्ट किया है। आज मेरा पाणिग्रहण करके भगवान, मुझे अपनी धर्मपत्नी बनावेंगे। मैं भी, आज भली प्रकार अपने हृदयेश्वर का दर्शन कर सकूंगी। भगवान की पत्नी बनने का सौभाग्य प्राप्त होने के साथ ही, मुझे महारानी शिवादेवी और महाराजा समुद्रविजय ऐसे सासु-ससुर की सेवा का सुयोग भी प्राप्त होगा। मैं, त्रिखण्डपति श्रीकृष्ण और बलदेवजी की अनुजवधू बनूंगी। बहन सत्यभामा, मेरी जेठानी होंगी। धन्य है मुझको! संसार में, मुझसी भाग्यशालिनी स्त्री दूसरी कौन होगी!

राजमती, इसी प्रकार के आशापूर्ण अनेकों विचार करती हुई प्रसन्न हो रही थी। इतने ही में, उसकी दाहिनी आँख फरक उठी। साथ ही दाहिना अङ्ग भी फरकने लगा। इस अपशकुन ने, उसकी प्रसन्नता को चिन्ता में परिणत कर दिया। उसका प्रसन्न-मुख, गंभीर वन गया। अपशकुन ने, उसके आशा से भरे विचारों को वड़ी ठेस पहुँचाई। वह सोचने लगी, कि क्या मेरी आशाएं अपूर्ण रहेंगी! क्या मेरे सव विचार, स्वप्न-सुख के समान ही सिद्ध होंगे! क्या मैं, भगवान अरिष्टनेमि की पत्नी न वन सकूँगी!

राजमती की सखियां, राजमती को अवतक प्रसन्न देख रही थीं। वे, वीच-वीच में राजमती की प्रसन्नता वढ़ाने के लिए, कोई न कोई वात कहकर, उसकी मुसकराहट देखने के लिए उसके मुंह की ओर देखने लगती थीं; लेकिन इस वार उन्होंने राजमती के मुंह की ओर देखा, तो उन्हें राजमती के मुंह पर प्रसन्नता के वदले चिन्ता का साम्राज्य दिखाई पड़ा। वे, आश्चर्य से पूछने लगीं – सखी राजमती, आप उदास क्यों हो गई? कहीं हमारी किसी वात से तो रुष्ट नहीं हुई हैं?

राजमती – नहीं सखी, तुम्हारी वातों से मैं कभी भी रुष्ट नहीं हुई, तो आज क्यों रुष्ट होऊँगी!

सखी—फिर उदासी का क्या कारण है? अवतक तो आप प्रसन्न थीं, सहसा किस चिन्ता में पड़ गई। कहीं यह विचार तो

नहीं हो आया, कि अब मुझे अपने माता पिता का घर छोड़कर जाना पड़ेगा?

राजमती—नहीं सखी, यह बात भी नहीं है!

सखी—फिर ऐसा कौनसा कारण है, जिससे आप चिन्तित हो गई हैं? हमें भी बताओ। हम कोई दूसरी तो नहीं हैं!

राजमती—सखी, भावना तो कुछ और है, परन्तु दाहिनी आँख और दाहिना अङ्ग फरक कर कुछ और ही कहता है। अपशकुन कहते हैं, कि अभागिन राजमती, तू जो कुछ सोचती है उसे भूल जा, तेरी आशाएं निरर्थक हैं!

सखी—बस! दाहिनी आँख और दाहिना अङ्ग फरकने से इतनी चिन्ता! सखी, यह बात तो कोई ऐसी नहीं है, कि जो इस प्रकार चिन्ता में पड़ जाना पड़े। फरकना, खुजलाना, आदि तो शरीर का स्वभाव ही है; इस पर इतना विचार करने की क्या आवश्यकता! बारात, तोरणद्वार पर आरही है, अभी थोड़ी देर में तोरणद्वार पर आई जाती है, और आज, भगवान अरिष्टनेमि के साथ आपका विवाह भी हो जावेगा, फिर हृदय में किसी प्रकार की चिन्ता लाने की क्या आवश्यकता है! आप चिन्ता छोड़ो, और प्रसन्न होओ। ऐसे शुभ अवसर पर, अशुभ की तो आशंका ही नहीं करनी चाहिए।

करुणा

महापुरुष, या बड़े आदमी, और साधारण पुरुष, या छोटे आदमी में क्या अन्तर है, इस बात का विचार करने पर, कई अनेक ऐसी बातें ज्ञात होंगी, जो दोनों के बीच के अन्तर को स्पष्ट करती हैं। वैसे मनुष्य तो दोनों ही श्रेणी के लोग हैं, परन्तु एक में कुछ विशेषता होती है और दूसरे में कुछ न्यूनता। गुरुता और लघुता का कारण, यही है। जिसमें विशेषता है, वह महापुरुष या बड़ा आदमी माना जाता है, और जिसमें विशेषता नहीं है—अपितु न्यूनता है, वह साधारण या छोटा आदमी माना जाता है।

अब देखना यह है, कि किन विशेषताओं के कारण तो मनुष्य महापुरुष या बड़ा आदमी माना जाता है, और किस न्यूनता के कारण साधारण या छोटा आदमी माना जाता है। दृष्टि भेद के कारण, गुरुता और लघुता के कारणों में भी भेद हो जाता है। कोई आदमी उसे बड़ा मानता है, जिसमें शारीरिक बल-पराक्रम

अधिक है और उसे छोटा मानता है, जिसमें इसकी कमी है। कोई आदमी, उसे बड़ा मानता है, जो अधिक बुद्धिमान है, और उसे छोटा मानता है, जो बुद्धिहीन है। किसी आदमी की दृष्टि में, बड़ा आदमी वही है, जो धन वैभव सम्पन्न है, और जिसके पास धन वैभव नहीं है, वह छोटा आदमी है। इस प्रकार भिन्न भिन्न आदमी, गौरव और लाघव के कारण भी भिन्न भिन्न मानते हैं; परन्तु धर्म को जाननेवाले लोग, गुरुता और लघुता के जो कारण मानते हैं, वे इन कारणों से सर्वथा भिन्न हैं। उनका कथन है, कि शारीरिक बल-पराक्रम का होना न होना, गुरुता-लघुता का कारण नहीं हो सकता। शारीरिक बल-पराक्रम तो उस आदमी में भी होता है, जो अनेकों पर अत्याचार करता है, अनेकों को सताता है और अनेकों को लूटने खसोटने का प्रयत्न करता है। धन-वैभव-सम्पन्न होना भी, बड़प्पन का कारण नहीं हो सकता। अनेक धन-वैभव-सम्पन्न लोग ऐसे भी होते हैं, जो गरीबों की रोटी छीन छीन कर धनवान बन जाते हैं, और फिर उसी धन के द्वारा अन्याय अत्याचार करते और पाप फैलाते हैं। बुद्धि भी गौरव का कारण नहीं हो सकती। क्योंकि बुद्धिमान तो वह भी है, जो बुद्धि द्वारा दूसरों को कष्ट में डालता है। इस प्रकार शारीरिक-बल, धन, वैभव, या बुद्धि के कारण कोई मनुष्य बड़ा नहीं कहा जा सकता। हम तो उसे ही बड़ा कहेंगे, जिसमें सहृदयता है, सहिष्णुता है, दया

है, तथा दूसरे के दुःख से दुःखी होने, और दुःखी को सुखी बनाने का स्वभाव है। जो दूसरों को दुःख में नहीं डालता है, दीन दुःखी की सहायता करता है, जो अपने हित के लिये भी दूसरे का अहित नहीं करता, और जिसकी दृष्टि पाप से बचते रहने की है, वही बड़ा आदमी है। ऐसा ही व्यक्ति महापुरुष है, फिर चाहे वह बल-बुद्धि-सम्पन्न हो या न हो। लेकिन यदि उसमें उक्त गुण विद्यमान हैं, तो उसकी गणना सज्जनों या महापुरुषों में ही होगी। इसके विरुद्ध जिसमें ये गुण नहीं हैं, वह कैसा भी बल, धन, बुद्धि-सम्पन्न हो, हमारी दृष्टि में वह महापुरुष नहीं है, किन्तु साधारण या छोटा आदमी ही है।

महापुरुष, चाहे किसी भी कार्य में लगे हों और कहीं भी बैठे हों, उनकी दृष्टि सदा दुःखियों पर ही रहेगी। इस बात का वे सदा ध्यान रखते हैं, कि मेरे किसी भी कार्य, बात या विचार से, किसी को अनावश्यक दुःख न हो। वे, दीन दुःखी का कष्ट मिटाने की ही चेष्टा में रहते हैं, इसके लिये वे स्वयं का हित भी त्याग देते हैं, और स्वयं को कष्ट में भी डाल लेते हैं। उनमें, यही विशेषता होती है और इस विशेषता के कारण ही, वे जनता के हृदय पर अपना आधिपत्य जमा लेते हैं।

भगवान अरिष्टनेमि, राजकुमारी राजमती से विवाह करने के लिये जा रहे हैं। वे, अनेक वस्त्रालंकार धारण किये बैठे हैं, उन

पर छत्र छाया किये हुए है, चंवर ढुल रहे हैं, और अनेक राजा महाराजा आदि उनके पीछे पीछे चल रहे हैं। साधारण पुरुष के लिये, ऐसा समय बड़ा अभिमान का था, भावी सुख के विषय में, अनेक प्रकार की कल्पनाएं करने का था, और प्रसन्नता के आगे सबको भुला देने का था, लेकिन भगवान अरिष्टनेमि, साधारण पुरुष न थे, जो इन कारणों से दया, करुणा, सहृदयता आदि को विस्मृत कर देते। वे तो, इस अवसर को करुणा का महत्व बताने के लिये अत्यधिक उपयुक्त समझते थे। बल्कि इस उपयुक्त अवसर को प्राप्त करने के लिए ही, उन्होंने विवाह की तैयारी का विरोध नहीं किया था; किन्तु चुपचाप, उसमें भाग लेते रहे थे। ऐसे अमूल्य अवसर को, वे, कैसे जाने दे सकते थे। यदि विवाह की प्रसन्नता में वे इस अवसर को भूल जाते, तब तो उनकी गणना महापुरुषों में न होती और न उनके गुण-गान का ही कोई कारण होता।

भगवान अरिष्टनेमि की बारात, तोरणद्वार की ओर आ रही थी। वह, उस बाड़े और पींजरे के सामने आई, जिसमें अनेक पशु पक्षियों को वध करने के लिये बन्द कर रखा गया था। स्व-तन्त्रता अपहरण होने से, मरने के भय से और अश्रुतपूर्व नाद जन कोलाहल से, वे पशुपक्षी व्याकुल हो रहे थे। वे, अपनी में, च्यां म्यां आदि शब्द करके विलाप कर रहे थे; लेकिन म , उन बेचारों के विलाप पर ध्यान देने, उन पर करुणा

करने और उन्हें भय-मुक्त करने की फुरसत किसे थी! सब लोग, अपनी अपनी धुन में मस्त थे। साधारण पुरुष और महापुरुष की परीक्षा का समय भी यही था।

बाड़ों पींजरों में बंद वे पशु पक्षी, दुःख के मारे चिल्ला रहे थे। उन्हें, एक ओर तो अपने प्रियजनों के छूटने का दुःख था। किसी के बच्चे और साथी, जंगल में ही छूट गये थे और किसी के, उस घर में, जिसमें वह रहता था। प्रियजनों का वियोग, सांसारिक जीवों को कैसा दुःख देता है, इस बात को संसार के सभी लोग जानते हैं। दूसरा दुःख उन्हें, स्वतन्त्रता छिन जाने का था। वे, जंगल की खुली हवा में अपने साथियों के साथ स्वतन्त्रता-पूर्वक विचरा करते थे; एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते थे; कभी एक वृक्ष और कभी दूसरे वृक्ष के नीचे या ऊपर बैठते थे, परन्तु उनकी यह स्वतन्त्रता छिन गई। उन्हें बन्धन में डाल दिया गया। स्वतन्त्रता छिनने और बन्धन में पड़ने से, कैसा दुःख होता है, इस बात का पता तो सारे भारत को ही है। सारा भारत ही, यह दुःख अनुभव कर रहा है। भारत, एक बड़ा कारागार है, इसलिए यदि इसमें रहनेवालों में से शायद कोई आदमी, अभ्यस्त होने के कारण इस कारागार से दुःख न मानता हो, उसे छोटे छोटे जेलखानों के देखने से पता लग ही जावेगा, कि बन्धन में पड़ने से कैसा दुःख होता है। जेल में, अनेक ऐसे आदमी भी

होते हैं, जिन्हें जेल से बाहर रहने पर एक समय भी पेट भर रोटी मिलना कठिन है, और जेल में दोनों समय रोटी मिलती है; बहुतों का शरीर भी हृष्ट पुष्ट हो जाता है; फिर भी उसमें रहने वाला कोई भी आदमी, अपने को सुखी नहीं मानता। सब लोग यही चाहते हैं, कि हम इस बन्धन से मुक्त हो जावें, तो अच्छा। किसी पले हुए तोते को, पींजरे में बन्द रहने पर अच्छा से अच्छा, भोजन मिलता है; फिर भी, उसमें से वह मौका पा कर निकल ही भागता है। वह, जंगल में एक-एक कण चुनकर खाने में आनन्द मानता है, लेकिन पींजरे में बन्द रह कर अच्छे अच्छे भोजन खाना उसे पसन्द नहीं आता। बाड़े पींजरे में बन्द, वे पशुपक्षी भी, ऐसा ही दुःख अनुभव कर रहे थे।

पशुपक्षियों को, बड़ा भारी दुःख मृत्यु का हो रहा था। उनके हृदय में, भय हो रहा था, कि हम न मालूम कब मार डाले जावेंगे। उस बाड़े में, उनको खाने पीने को मिलता था, लेकिन जिस प्रकार एक फांसी पर चढ़ाये जाने वाले को, अच्छा से अच्छा भोजन भी बुरा और स्वादहीन मालूम होता है, उसी तरह उन पशु पक्षियों को भी, खाना-पीना बुरा लगता था। जिस प्रकार मारे जानेवाले मनुष्य के सामने, अपनी मृत्यु ही ताण्डव दिखाया करती है, उसी प्रकार उन पशु पक्षियों के सामने भी, उनकी मृत्यु ताण्डव दिखा रही थी।

मनुष्य, अपने सुख दुःख पर से दूसरे का सुख दुःख, सहज ही जान सकता है। वह समझ सकता है, कि जिस बात से मुझे दुःख हो सकता है, उसी बात से दूसरे को सुख कैसे हो सकता है! लेकिन स्वार्थ-भावना, उसे इस प्रकार के विवेक से शून्य बना देती है। स्वार्थरत मनुष्य, इस बात को बिलकुल ही भूल जाता है, कि मेरे इस कार्य से दूसरे को दुःख होता है या सुख। वह, थोड़ी देर के लिए भी यह नहीं सोचता, कि मैं, अपने सुख के लिए दूसरों के साथ जो व्यवहार करता हूँ, यह दूसरा भी यदि अपने सुख के लिए मेरे साथ ऐसा ही व्यवहार करे, तो मुझे कैसा दुःख होगा! पशु पक्षियों की अपेक्षा, मनुष्य, अधिक विवेकवान माना जाता है; लेकिन विवेकवान होने पर भी, मनुष्य, स्वार्थवश विवेक-हीन बन जाता है और समझने लगता है, कि दुःख तो केवल मुझे ही होता है, दूसरे को तो दुःख होता ही नहीं है; या वह दूसरा, स्वयं दुःख उठाकर मुझे सुख देने के लिए ही पैदा हुआ है। यदि मनुष्य, स्वार्थभावना से विवेकहीन न बने, और जैसा सुख दुःख अपने लिए मानता है, वैसा ही दूसरे के लिए भी माने, तो वह किंचित भी पाप में प्रवृत्त न हो; लेकिन संसार में ऐसे बहुत कम मनुष्य निकलेंगे, जो स्वार्थ छोड़कर अपने ही समान दूसरे का भी सुख दुःख मानें, या दूसरे को दुःख में न डालने के लिए-दूसरे को सुख पहुंचाने के लिये-अपना स्वार्थ छोड़ दें। बल्कि

बहुत आदमी तो ऐसे भी निकलेंगे, जो किसी प्रकार का स्वार्थ न होने पर भी, दूसरे को कष्ट पहुंचाते हैं। विवेकहीन माना जानेवाला पशु भी, निष्कारण किसी की हानि करने को तैयार नहीं होता; परन्तु विवेक-सम्पन्न मनुष्य, कभी कभी पशुओं से भी नीच बन जाता है और अकारण ही दूसरे की हानि करने लगता है। इस विषय में भर्तृहरि ने भी कहा है कि:—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये॥
तेऽमी मानुष राक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

भावार्थ—जो लोग अपने स्वार्थ का खयाल न करके दूसरे का भला करते हैं, वे अवश्य ही सत्पुरुष हैं और जो दूसरे के भले के साथ साथ अपना भला भी करते हैं, वे साधारण पुरुष हैं। जो अपने भले के लिये दूसरे का काम बिगाड़ते हैं, वे मनुष्य रूप में राक्षस हैं और जो बिना कारण ही दूसरों को हानि पहुंचाते हैं, उन्हें क्या कहें, यह हमारी समझ में नहीं आता।

संसार के सभी प्राणी, सुख चाहते हैं; दुःख कोई नहीं चाहता। बल्कि, सभी लोग, दुःख से बचे रहने और सुख प्राप्त होने का उपाय करते रहते हैं। मृत्यु, जरा व्याधि या दूसरे मानसिक आदि दुःख से सभी जीव डरते रहते हैं, और ऐसे दुःख से त्राण

पाने की खोज में रहते हैं। यह बात दूसरी है, कि सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश चाहते हुए भी, कोई भ्रमवश विपरीत मार्ग ग्रहण करे; परन्तु उद्देश्य सबका सुख प्राप्त करना ही होता है। ऐसा होते हुए भी, मनुष्य, दूसरों के लिये यह बात भूल जाता है। बल्कि, कभी कभी तो दूसरों के सुख से ईर्षा करने लगता है, या दूसरे को दुःखी देखकर प्रसन्न होता है। यह नहीं सोचता, कि दुःख मुझे जैसा बुरा लगता है, वैसा ही बुरा दूसरे को भी लगता होगा। यदि संसार के सब मनुष्य अपने सुख-दुःख के समान ही दूसरे का सुख-दुःख मानने लगें, तो संसार से हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, और पदार्थ-ममत्व का पाप ही उठ जावे।

भगवान की बारात के बहुत से लोग, भगवान के आगे ही थे, फिर भी उन दीन पशु पक्षियों की करुण चीत्कार से, उनका हृदय द्रवित नहीं हुआ। संभव है, कि उन पशु पक्षियों की हृदयद्रावी पुकार की ओर, किसी ने ध्यान ही न दिया हो, या किसी का ध्यान गया भी होगा तो वह, इस विचार से प्रसन्न हुआ होगा, कि मुझे इन हृष्ट-पुष्ट पशु-पक्षियों का मांस खाने को मिलेगा। नीतिकारों का कथन ही है, कि मांस भोजी में दया व मदिरापान करने वालों में पवित्रता नहीं हो सकती। ऐसी दशा में उन लोगों का हृदय द्रवित हो तो कैसे! बारात में, आगे की ओर जितने भी आदमी थे, वे सब उग्रसेन के महल की ओर आगे को ही बढ़ते गये, परन्तु

भगवान अरिष्टनेमि आगे न बढ़े। किसी अन्य ने तो उन पशु पक्षियों पर दया नहीं की, परन्तु भगवान उनकी उपेक्षा कैसे कर सकते थे। भगवान का हृदय, उन भय-ग्रस्त जीवों की करुणा से भर आया। भगवान ने, उस बाड़े पींजरे के सामने आते ही, सारथी से पूछा—सारथी, इन बेचारे सुखाभिलाषी पशु पक्षियों को बन्धन में क्यों डाला गया है ?

यद्यपि भगवान अरिष्टनेमि, अतिशय ज्ञानी होने के कारण इस बात को जानते थे कि इन पशु पक्षियों को मांस के वास्ते मारा जाने के लिए बन्धन में डाला गया है, लेकिन यदि वे अपनी इस जानकारी के आधार पर ही पशु-पक्षियों पर करुणा करके उन्हें बन्धन मुक्त करा देते तो बारात के लोग तथा दूसरे लोग पशुपक्षी को बन्धन-मुक्त कराने का कारण न समझ पाते, और जिस उद्देश्य को भगवान पूरा करना चाहते थे, वह पूरा न होता। इसलिये भगवान ने सब कुछ जानते हुए भी सारथी से उक्त प्रश्न किया।

भगवान के प्रश्न के उत्तर में, सारथी कहने लगा—हे प्रभो, ये समस्त भद्रप्राणी, आपके विवाह के कारण ही एकत्रित किये गये हैं और बाड़े पींजरे में बन्द रखे गये हैं। इन्हें वध करके, आपके विवाहोपलक्ष्य में, लोगों को इनके मांस का भोजन कराया जावेगा।

सारथी की बात के उत्तर में, भगवान कहने लगे—देखो तो,

ये दीन जीव मरण-भय से किस प्रकार दुःखित हो रहे हैं! तृण, फल, आदि से निर्वाह करनेवाले और किसी की हानि न करने वाले इन जीवों का वध, मेरे ही विवाह के कारण होगा! यदि मेरा विवाह न हो, तो ये बेचारे पशुपक्षी इस प्रकार के बन्धन में क्यों पड़ें और इन्हें मरण-भय से क्यों दुखित होना पड़े! मेरे निमित्त इन जीवों की हिंसा, मुझे परलोक में श्रेयस्कर नहीं हो सकती। मैं तो, हिंसा को सर्वथा अनुचित समझता हूँ।

वाड़े पींजरे में बन्द पशु-पक्षी की हिंसा न तो भगवान स्वयं ही करते थे, न दूसरे से कराते ही थे और वे, उन पशु-पक्षियों का मांस न खाने पर, अनुमोदन के पाप से भी बच सकते थे। ऐसा होते हुए भी, भगवान ने उस हिंसा का निमित्त-कारण अपने को ही माना, लेकिन धर्म को भली प्रकार न जाननेवाले बहुत से लोग समझते हैं; कि हम स्वयं अपने हाथ से कुछ न करें, बस, हमें पाप न होगा। फिर चाहे किसी कार्य में, उनकी प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरणा ही क्यों न रही हो, या वह कार्य उन्हीं के लिए ही क्यों न किया गया हो, वे अपने को उस कार्य के पाप से मुक्त समझते हैं और वह केवल इस कारण, कि उन्होंने उस कार्य को अपने हाथ से नहीं किया था। उदाहरण के लिए, चीन के मांस-विक्रेता अपनी दूकानों पर बोर्ड लगा रखते हैं, कि "विश्वास रखिये, यह जीव आपके लिए नहीं मारा गया है।" इस बोर्ड के

दने रहने पर वहां के बौद्ध लोग मांस खरीद कर खाते हैं और अपने आपको पाप से मुक्त तथा अहिंसक ही समझते हैं। यह नहीं विचारते कि यदि हम मांस न खरीदें, तो मांस के लिए कोई जीव मारा ही क्यों जावे! हम मांस खरीदते हैं, इसीलिए मांस-विक्रेता जीव मारता है और ऐसी दशा में हम पाप से मुक्त हो सकते हैं।

चीन के बौद्धों की तरह, यहां के अनेक जैन भी अपनेआप को किसी कार्य के पाप से इसीलिए मुक्त समझते हैं, कि वह कार्य उन्होंने अपने हाथों से नहीं किया था, किन्तु अपने नौकरों से, या किसी दूसरों से कराया था। कई घरों की स्त्रियां तो, इसीलिए रसोई बनाने, पानी छानने, पानी गरम करने, आटा पीसने, साग तरकारी ठीक करने, झाड़ू निकालने पशुओं को घास दाना देने आदि के लिए नौकर रखती हैं और समझती हैं, कि यह काम तो नौकर ने किया है, इसलिए हमें इस काम की क्रिया नहीं लगी। यह नहीं समझतीं, कि जो काम हमने ही कराया है, जो हमारे ही लिए हुआ है और जिसके करने में हमारी प्रेरणा है, हम उस कार्य की क्रिया से कैसे बच सकती हैं? बल्कि, दूसरों से काम कराकर हम और अधिक पाप कर रही हैं! यदि नौकर द्वारा कराया गया काम हम स्वयं करतीं, तो हम श्राविका हैं, इसलिए अनावश्यक किसी जीव को कष्ट न हो, इसका अधिक से अधिक ध्यान रख सकती थीं। नौकर लोग, इस बात का बहुत कम

ध्यान रखेंगे, इस कारण वह कार्य, अधिक होने पर सम्पादन होगा और इस प्रकार हमें अधिक पाप लगेगा, इस बात को तो वे बिलकुल भूल जाती हैं। यदि कोई आदमी, इस बात की ओर उनका ध्यान खींचता भी है, तो कह देती हैं कि, वह पाप-कार्य हमने थोड़े ही किया; जिसने किया वह उसका फल भोगेगा। परन्तु वह कार्य, किसके लिए किया गया और जिसके लिए किया गया है, वह, उसके पाप से कैसे बच सकता है, यह बात उनके ध्यान में ही नहीं आती। केवल स्त्रियां ही नहीं, अनेक पुरुष भी ऐसे विचार रखते हैं। बहुत से पुरुष भी, दया करके अपने भोजन की सामग्री हलवाई द्वारा, या किसी दूसरे के द्वारा बनवाते हैं और समझते हैं, कि हमने यह कार्य नहीं किया, इसलिये हम पाप से मुक्त हैं। फिर चाहे एक छोटे चूल्हे के बदले, बड़ी भट्टी का ही आरम्भ क्यों न हुआ हो, वे तो अपने को आरम्भ के पाप से बचा हुआ ही मानते हैं। ऐसे लोगों के लिए, यह कैसे कहा जा सकता है, कि उन्होंने धर्म को समझा है। हो सकता है, कि भगवान अरिष्टनेमि के समय में भी कुछ लोग ऐसे विचार रखते हों, और उन्हें बोध देने के लिए ही भगवान अरिष्टनेमि ने यह कहा हो कि "मेरे निमित्त होनेवाली यह हिंसा, परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकती"।

भगवान को, बन्धन में पड़े हुए पशुपक्षियों के लिए इस प्रकार

करुणार्द्र देखकर, सारथी ने, उन बन्धन में पड़े हुए समस्त पशु-पक्षियों को बन्धन-मुक्त कर दिया। बन्धन-मुक्त होते ही, वे पशु-पक्षी, आनन्दित होते हुए अपने-अपने स्थान को भाग चले। उस समय वे कैसे हर्षित हुए होंगे, यह बात तो वही व्यक्ति जान सकता है, जो मारा जाने के लिए बांध रखा गया हो, और किसी ऐसे ही कारण से बन्धन-मुक्त हुआ हो।

सारथी के इस कार्य से, भगवान बहुत सन्तुष्ट और प्रसन्न हुए। वे, उन लोगों में से न थे, जो प्रसन्न होकर भी केवल मौखिक वाहवाही या धन्यवाद देकर ही रह जाते हैं। वे जानते थे, कि मौखिक वाहवाही या धन्यवाद न तो खाने के काम आता है, न पीने के और न पहिनने के। मौखिक धन्यवाद, संसार-व्यवहार में, एक गृहस्थ की सहायता नहीं कर सकता, न मौखिक धन्यवाद से उसे, प्रसन्नता ही हो सकती है। इसलिए भगवान, सारथी पर केवल प्रसन्न होकर ही न रहे, किन्तु उन्होंने, अपने शरीर पर धारण किये हुए, कुण्डल, करधनी, (कन्दोरा) प्रभृति बहुमूल्य आभूषण उतारकर सारथी को पुरस्कार-स्वरूप प्रदान कर दिये। उन बहुमूल्य आभूषणों को पाकर, सारथी भी कैसा प्रसन्न हुआ होगा, इसका अनुमान तो संसार के प्रायः सभी लोग करसकते हैं।

सारथी को, अपने आभूषण पुरस्कार स्वरूप प्रदान करके, भगवान ने उससे कहा — सखे, अब मैं आगे नहीं जाना चाहता,

इसलिए मुझे लौटा चलो। भगवान की यह आज्ञा सुनकर, सारथी को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वह, थोड़ी देर के लिए अवाक् रह गया और फिर कहने लगा—हे आयुष्यमान्, यद्यपि आपकी आज्ञा का पालन करना मेरा कर्तव्य है, आपकी आज्ञा के विरुद्ध कुछ करने या कहने का मुझे अधिकार नहीं है, फिर भी मैं आप से यह प्रार्थना करना उचित समझता हूँ, कि आप एक वार अपनी आज्ञा पर पुनः विचार करने की कृपा करिये। विवाह के ठीक अवसर पर तोरणद्वार से लौट जाना भी उचित न होगा, और श्रीकृष्ण प्रभृति, माननीय लोग, ऐसा करने भी न देंगे।

भगवान—मैं, अपने कर्तव्य को भलीभांति सोच समझ चुका हूँ, अतः तुम्हें किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। तुमतो वही करो, जो कुछ मैं कहता हूँ।

सारथी, और कुछ कहने का साहस न कर सका। उसने, जिस वाहन पर भगवान विराजते थे, उसे पीछे की ओर मोड़ा। भगवान को पीछे की ओर लौटते देखकर, सारी बारात में कोलाहल मच गया।

उधर उग्रसेन के महल में, राजमती की सखियां राजमती को धैर्य बंधा रही थीं। वे कह रही थीं—सखी राजमती, आप घबराइये मत, धैर्य धरिये। दाहिनी आँख और दाहिने अंग का फरकना, ऐसा कोई भयंकर अपशकुन नहीं है, जिसके कारण इस प्रकार चिन्ता में पड़ जाना पड़े।

राजमती—सखी, तुम कुछ भी कहो, परन्तु हृदय धैर्य नहीं धरता। हृदय बार बार यही कहता है, कि बस! तेरी पुण्य कमाई समाप्त हो चुकी, और थोड़ी ही देर में उसके अभिनय का अन्तिम पर्दा गिरनेवाला है।

सखी—बहन राजमती, आप इतनी क्यों घबरा गई हैं! थोड़ा तो धैर्य धरो! आप अपनी आँखों से देख रही हैं, कि वरराज आपके साथ विवाह करने के लिए पधार रहे हैं, फिर इस प्रकार की आशंका का क्या कारण हो सकता है!

राजमती की सखियाँ, इस प्रकार राजमती को समझा रही थीं। राजमती, उनकी बातें सुनती हुई, सजल नेत्रों से भगवान की ओर देख रही थी और अपने हृदय में अनेक प्रकार के अनिष्ट की आशंका कर रही थी। इतने ही में उसने देखा, कि भगवान के सारथी ने बाड़े पींजरे में बन्द पशुपक्षियों को बन्धन मुक्त कर दिया है, भगवान ने अपने आभूषण उतारकर सारथी को दे दिये हैं, और भगवान पीछे की ओर लौट पड़े हैं। सारथी द्वारा पशु-पक्षियों की मुक्ति और भगवान द्वारा सारथी को आभूषणों का दिया जाना देख-देख कर, राजमती के हृदय की आशंका उग्ररूप धारण करती जा रही थी। भगवान का लौटना देख कर तो, उसका धैर्य बिलकुल ही छूट गया! वह, मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। उसकी सखियां, उसको गिरती देखकर उसे सम्हालने

दौड़ीं! वे, भूमि पर मूर्छित पड़ी हुई राजमती को उठाकर, उस पर पंखा करने लगीं। 'वरराज वापस लौटे जारहे हैं, इससे राजमती मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी है' यह समाचार सारे महल में विजली की तरह फैल गया। महल का आमोद-प्रमोद बन्द हो गया। सब जगह सन्नाटा छा गया। राजमती के माता-पिता के हृदय को, राजमती की मूर्छा का दुःसमाचार सुनकर, बड़ा दुःख हुआ। वे, दौड़े हुए राजमती के महल में आये और राजमती की मूर्छा दूर करने का प्रयत्न करने लगे।

उग्रसेन के महल में तो, राजमती की मूर्छा से खलबली मची हुई थी, और बारात में भगवान अरिष्टनेमि के लौटने से खलबली पड़ी हुई थी। वरपक्ष और कन्या पक्ष, दोनों ही में अशान्ति उत्पन्न हो गई थी। दोनों ही ओर का परिवार, चिन्ताग्रस्त हो रहा था, परन्तु भगवान अरिष्टनेमि के हृदय में, न अशान्ति थी न चिन्ता, अपितु वे पूर्ववत् ही प्रसन्न थे।

उपदेश

महापुरुषों का यह स्वभाव होता, कि वे जिस कार्य को एक बार बुरा समझ लेते हैं, उसे आप तो सदा के लिए त्याग ही देते हैं, साथ ही दूसरे लोगों को भी उस कार्य की बुराई समझा कर, उसके त्याग का उपदेश करते हैं। इसी प्रकार, जिसे वे एक बार अच्छा समझ लेते हैं, उसे आप भी सदा के लिए अपना लेते हैं, और दूसरे को अपनाने का सदा उपदेश करते रहते हैं। वे, किसी भी अच्छे या बुरे कार्य या विचार को, गोपकर नहीं रखते, किन्तु उसे सब पर प्रकट कर देते हैं, और साथ ही साथ, उसके विषय में स्वयं का जो अनुभव है, उसका लाभ भी दूसरे को देते हैं। फिर चाहे ऐसा करने में, उन्हें कितनी ही आपत्तियों का सामना क्यों न करना पड़े, वे अपने अनुभूत विचारों का प्रचार करने में, आगे बढ़ते ही जाते हैं। वे, घोर से घोर विरोध सहते हैं, कठिन से कठिन तप स्वीकार करते हैं, और

प्रिय से प्रिय वस्तु भी त्याग देते हैं, तथा यह सब कुछ करते हैं अपने अनुभूत विचारों का प्रचार करने के लिए। कभी कभी तो, ऐसा करनेवालों को अपने प्राण तक खो देने पड़ते हैं; लेकिन वे महापुरुष, अन्त समय तक अपने ध्येय पर दृढ़ रहते हैं, प्राणों के लोभ में पड़कर, अपने निश्चय से विचलित नहीं होते।

अपने विचार और अनुभव के प्रचार में, उन महापुरुषों का उद्देश्य यह नहीं रहता, कि हमें मान बड़ाई मिले, लोग हमारे अनुयायी हों, या हम महापुरुष माने जावें। उनका लक्ष्य तो, केवल संसार का उपकार ही रहता है। वे, बुरे कार्य को त्यागकर और अच्छे कार्य को अपना कर, अपना कल्याण तो कर ही लेते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि में स्वहित साधन की अपेक्षा, परोपकार का महत्त्व अधिक रहता है। इसीलिए वे सांसारिक सुख-वैभव त्यागकर अनेक कष्ट सहकर और अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर, परोपकार-रत हो जाते हैं। उन्हें, ऐसा करने से रोकने में, कोई समर्थ नहीं हो सकता। वे, इस धर्म में बाधक होनेवाले समस्त बन्धनों को तोड़ डालते हैं।

भगवान अरिष्टनेमि, ऐसे कार्य के लिए ही उग्रसेन के द्वार पर से लौट पड़े थे। वे, आये तो थे दूल्हा बनकर, परन्तु विवाह करके अपनेआप को बंधन में डाल लेने की अपेक्षा, उन्होंने उस विचार का प्रचार अधिक महत्वपूर्ण समझा, जो उनकी दृष्टि में अच्छा था

और जिसका प्रचार होने पर, संसार के समस्त प्राणियों को लाभ पहुंच सकता था।

भगवान का वाहन, पीछे की ओर लौट पड़ा। श्रीकृष्ण बलदेव समुद्रविजय प्रभृति प्रमुख-प्रमुख यादव, भगवान के पीछे की ओर लौटने का कारण न समझ सके। चिन्तित-हृदय वे, दौड़कर भगवान के वाहन के पास आये और सारथी से, वाहन लौटाने का कारण पूछने लगे। सारथी ने, बाड़े पींजरे में बन्द पशु पक्षियों पर भगवान का करुणार्द्र होना, स्वयं के द्वारा उन पशुपक्षियों का बन्धन-मुक्त किया जाना, और भगवान का प्रसन्न होकर पुरस्कार प्रदान करना, आदि विवरण सुनाकर, भगवान की वह आज्ञा भी सुनाई जिसके अनुसार उसने वाहन लौटाया था। सारथी की बात सुनकर, श्रीकृष्ण प्रभृति यादव कहने लगे, कि अरिष्टनेमि ने उन पशु-पक्षियों पर करुणा की और उनको बन्धन मुक्त करनेवाले को अपने आभूषण पुरस्कार-स्वरूप देदिये, यह तो ठीक है, हम इसे अनुचित नहीं कहते, परन्तु अब तोरणद्वार की ओर न जाकर पीछे की ओर लौटने का क्या कारण? अरिष्टनेमि को वापिस लौटते देखकर, सब लोग क्या कहेंगे! मुहूर्त्त के कार्य के समय, इस प्रकार लौटना क्या उचित था! जो हुआ सो हुआ, अब वाहन पुनः तोरणद्वार की ओर चलने दो, तोरणद्वार पर पहुँचने का समय बीता जा रहा है!

सब लोग, भगवान अरिष्टनेमि के सारथी से यही बात कहने लगे। तब भगवान अरिष्टनेमि, श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके कहने लगे—भ्राता, अब आप मुझे जाने ही दीजिये, रोकिये मत !

श्रीकृष्ण—ऐसा क्यों ? क्या आप बिना विवाह किये ही लौट जावेंगे ? और यदि आप ऐसा करना भी चाहेंगे, तो हम लोग आपको बिना विवाह किये कैसे जाने देंगे ! ऐसा होने पर, लोग हमें और आपको क्या कहेंगे ! राजकुमारी राजमती की, क्या गति होगी !

भगवान को, चारों ओर से घेरकर यादव बाराती गण आदि, भगवान और श्रीकृष्ण की बातें सुनने लगे। भगवान ने, उपदेश के लिए इस अवसर को उपयुक्त समझा। वे, श्रीकृष्ण की बात के उत्तर में कहने लगे—भ्राता, मैं यहां तक जिस उद्देश्य के लिए आया था, मेरा यह उद्देश्य पूरा होगया। आप समझते हैं, कि मैं राजमती से विवाह करने के लिए आया था, मैं राजमती के लिए दूल्हा बना था, परन्तु वास्तविक बात इससे विपरीत है। राजमती से, या किसी दूसरी कन्या से, न तो मैंने विवाह करना स्वीकार ही किया था, और न मैं विवाह करना ही चाहता था। मेरी भावजों ने झूठ मूठ ही यह प्रसिद्ध कर दिया था, कि मैंने विवाह करना स्वीकर लिया, और आपने भी, भावजों की बात सच मानकर मेरा विवाह रचवा दिया। ऐसा होते हुए भी, मैं क्यों चुप रहा, आपके

द्वारा की गई विवाह-रचना में, अब तक क्यों सम्मिलित रहा; इसका कारण आप मुझ से सुनिये !

द्वारका-निवासी यादवों को, आज सब प्रकार का सांसारिक सुख प्राप्त है। धन जन आदि सभी प्रकार से उन्नत हैं। यदि वे चाहते, तो प्राप्त सुविधाओं द्वारा मर्यादा-पूर्वक सांसारिक सुख भी भोग सकते थे; परन्तु उन्हें सन्तोष न रहा। अधिकांश यादव, मर्यादा का उल्लंघन कर गये और मनुष्य जीवन की सार्थकता, मांस, मदिरा, आदि में ही मानने लगे। इसके लिए वे, अनेक जीवों को कष्ट देते हैं, उनकी हत्या करते हैं और ऐसा करने में, अपनेआप के लिए सुख मानते हैं। उनकी दृष्टि में, सुख दुःख तो केवल उन्हीं को होता है, दूसरे प्राणियों को सुख दुःख होता ही नहीं है. या दूसरे प्राणी, जैसे प्राणी ही नहीं है। लेकिन वास्तव में, संसार के जितने भी प्राणी हैं, उनमें से कोई भी प्राणी, दुःख नहीं चाहता है और कदाचित् कोई दुःख चाहता भी होगा, तो उस दुःख के पीछे सुख है, इसी आशा से। यदि कोई आदमी, या कोई देवता, आप को अपने सुख के लिए दुःख में डाले, तो क्या आप उस दुःख में डालनेवाले का यह कार्य ठीक मानेंगे ? उस दुःख में डालने वाले के कार्य को अन्याय या अनुचित न कहेंगे ! यदि अपने को दुःख देने वाले को, अन्याय या अनुचित कार्य करनेवाला कह सकते हैं, तो अपने सुख के लिये जिन्हें दुःख में डाला जाता है, वे जीव, क्या

दुःख में डालनेवाले को अन्यायी या अनुचित कार्य करनेवाला न कहते होंगे ? जो बात स्वयं को बुरी लगती है, क्या वह दूसरे को बुरी न लगती होगी ? जिस कार्य से स्वयं को दुःख हो सकता है, क्या उससे दूसरे को दुःख न होगा ? अवश्य होगा। परन्तु लोग, अपने स्वार्थ में पड़कर इस बात को भूल रहे हैं और यही कारण है, कि मांस के लिए अनेक पशुपक्षियों की हत्या कर डालते हैं। जो मंगल कार्य माने जाते हैं, उन विवाहादि अवसरों पर कितने जीवों का अमंगल हो जाता है, कितने जीवों की निर्दयता-पूर्वक हिंसा कर डाली जाती है, यह कभी किसी ने विचारा है ? अपना तो मंगल चाहना और दूसरे का अमंगल करना, यह भी कोई न्याय है ? यदि ये जीव, अधिक सामर्थ्यवान होते और जो व्यवहार लोग इनके साथ करते हैं, वही व्यवहार लोगों के साथ ये भी करने लगते, तो लोगों को दुःख होता या नहीं ?

भ्राता ! यह मनुष्य जन्म बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। इसकी प्राप्ति से पूर्व, न मालूम कितने काल तक वनस्पति, कीड़े, मकोड़े आदि की योनि में रहना पड़ा होगा और मालूम कितनी बार, उसी तरह के पशुपक्षी के शरीर में रहना पड़ा होगा, जिस तरह के पशुपक्षियों को लोग अपना भक्ष्य समझकर मार डालते हैं। इस प्रकार अनेक जन्म तक कष्ट भोगने के पश्चात् ही, यह मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। अब क्या इस मनुष्य-शरीर को ऐसे कार्य में

लगाना ठीक है, कि जिसके कारण फिर नरक तिर्यक आदि की योनि भोगना पड़े; या ऐसे कार्य में लगाना चाहिए, कि जिससे फिर संसार में पुनः पुनः जन्म धारण करने का दुःख न उठाना पड़े ? जो मनुष्य, अपने जन्म का उद्देश्य विषय भोग ही मान लेता है, और इस कारण अधिकाधिक विषयभोग में प्रवृत्त होता है, वह अपने लिए, पुनः पुनः जन्म मरण करने की सामग्री एकत्रित करता है। इसके विपरीत जो मनुष्य, मनुष्य-जन्म का उद्देश्य जन्म मरण से मुक्त होना समझता है, वह विषयभोग में सुख नहीं मानता; अपितु विषय-जन्य सुखों को त्याग देता है, और समस्त प्राणियों को अपने समान समझकर, सब से प्रेम और मैत्री-पूर्ण व्यवहार रखता है। ऐसा ही व्यक्ति, प्रेम और मैत्री भावना को पूर्ण रूपेण विकसित करके, संसार के जन्म-मरण से छुटकारा भी पाता है; और अक्षय सुख प्राप्त करता है।

यद्यपि बड़ी कठिनाई से मिला हुआ यह मनुष्य देह, जन्म-मरण से मुक्ति पाने के कार्यों में ही लगाना चाहिए, परन्तु लोग, अधिकाधिक जन्म मरण के कार्यों में लगा रहे हैं; यह बात मुझे असह्य हुई। मैं, अपने लिए तो वह अक्षय सुख प्राप्त करना चाहता ही हूँ, लेकिन साथ ही जनता का ध्यान भी, इस ओर खींचना चाहता था और इसके लिए मैं अवसर की प्रतीक्षा में था। विवाह की तैयारी होने पर मैंने सोचा, कि विवाह के बहाने मुझे, लोगों को उपदेश देने

का अच्छा अवसर मिलेगा। यह विचार कर ही मैंने विवाह-सम्बन्धी किसी बात का विरोध नहीं किया। मुझे, लोगों को यह बताना था, कि मैं, न राज्य को अधिक समझता हूँ, न राजमती ऐसी स्त्री मुझे अधिक प्रिय है, और न विषय जन्य सुखों को ही मैं अच्छा समझता हूँ। मेरी दृष्टि में इन सबकी अपेक्षा, अहिंसा ही अधिक है। इसके लिए मैं, समस्त सांसारिक सुखों को त्याग सकता हूँ और इसीलिए, मैं वापस जा रहा हूँ। अब मैं, घरबार आदि किसी प्रपंच में नहीं रहना चाहता, किन्तु अपनेआप को जन्म-मरण से मुक्त करने का उपाय करने के साथ ही, संसार को यह पाठ पढ़ाना चाहता हूँ, कि समस्त प्राणियों को अपने ही समान मानकर, विषय-जन्य सुखों को त्यागो और वह सुख प्राप्त करो, जो अक्षय तथा ध्रुव है। इसलिए अब आप मुझे रोकने की निष्फल चेष्टा मत करिये; मुझे जाने दीजिये।

भगवान अरिष्टनेमि का उत्तर सुनकर, कृष्ण आदि को एक गंभीर विचार के साथ ही कुछ निराशा भी हुई। लोगों के हृदय पर, भगवान अरिष्टनेमि के उत्तर का उचित प्रभाव पड़ा। भगवान अरिष्टनेमि के कथन की सत्यता से, कोई इनकार न कर सका। श्रीकृष्ण भी, निरुत्तर हो गये, लेकिन वे, अब दूसरे उपाय से काम लेने लगे। वे कहने लगे—भाई अरिष्टनेमि, आपके कथन की यथार्थता से मैं इनकार नहीं कर सकता; आपने अहिंसा का जो

क्रियात्मक उपदेश दिया है, वह भी निष्फल नहीं हो सकता, लेकिन उग्रसेन–कुमारी राजमती के साथ विवाह किये बिना चले जाना, ठीक नहीं है। ऐसा करने से, यादवों की प्रतिष्ठा को धक्का लगता है, हम सबका अपमान होता है, और एक निर्दोष बाला का तिरस्कार होता है। इसलिए आप, उग्रसेन के महल को चलकर राजमती का पाणिग्रहण कीजिए।

कृष्ण का कथन सुनकर, भगवान ने उत्तर दिया – भ्राता, जब आप त्याग का महत्व स्वीकार कर चुके हैं, तब आपका इस प्रकार का आग्रह ठीक नहीं है। या तो आप सांसारिक मान-सम्मान को ही बड़ा मानिये, या सांसारिक मान-सम्मान के बलिदान को। मेरी दृष्टि में तो सांसारिक पदार्थों को त्यागने के साथ ही, सांसारिक मान-सम्मान भी उपेक्षणीय है। इसके सिवा, राजमती के साथ विवाह न करने पर, आप लोगों का अपमान तब हो सकता है, जब मैं राजमती से विवाह न करके किसी दूसरी से विवाह करूँ। लेकिन मेरे लिए तो राजमती प्रभृति समस्त स्त्रियाँ, माता समान हैं। मैं, उग्रसेन-कन्या राजमती का तिरस्कार भी नहीं कर रहा हूँ। वैसे तो, मेरे समीप संसार के समस्त विषय-भोग के साधन तिरस्कार के योग्य हैं, परन्तु आत्मा की दृष्टि से, मैं एक छोटे से छोटे प्राणी का भी तिरस्कार नहीं कर सकता। सांसारिक-दृष्टि से भी, मैं राजमती का

तिरस्कार नहीं कर रहा हूँ; न ऐसा करने का कोई कारण ही है। क्योंकि, मैंने, न तो राजमती को देखा ही है, न उसका कोई अपराध ही सुना है। ऐसी दशा में, मेरी ओर से वह तिरस्कृत कैसे कही जा सकती है!

भ्राताजी, मैं, किसी भी सांसारिक-बन्धन में नहीं पड़ना चाहता; किन्तु समस्त सांसारिक-बन्धनों से मुक्त होना चाहता हूँ। जब मैं बन्धन में पड़े हुए पशु-पक्षियों को भी, बन्धन मुक्त करके स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहता हूँ, तब मैं स्वयं, स्वतन्त्रता खोकर बन्धन में कैसे पड़ सकता हूँ! यद्यपि आप सब लोग मुझ से स्नेह रखते हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में तो, कुटुम्ब-परिवार आदि सब बन्धन रूप ही हैं। मैं चाहता हूँ, कि जिस प्रकार वे पशुपक्षी बन्धन से मुक्त होते ही आनन्द-पूर्वक उनकी दृष्टि से स्वतन्त्र वातावरण में विचरने के लिए चले गये, उसी प्रकार मैं भी, मुक्त होकर स्वतंत्र वातावरण में विचरूं। संसार में पुनः पुनः जन्म मरण करने के लिए, अपने आत्मा को ऐसे बन्धन में कदापि नहीं डालना चाहता, जिस बन्धन में पड़कर सतत् आरम्भ-समारम्भ आदि पाप करना पड़ते हैं। मैं चाहता हूँ, कि मैं स्वयं भी आरम्भ समारम्भ आदि पाप से बचूँ; और संसार के लोगों को भी, यही पाठ सिखाऊँ। इसलिए आप, मुझे रोकने की व्यर्थ चेष्टा मत करिये। मैं, आपको अपना दृढ़ निश्चय सुनाये देता हूँ, कि मैं संसार के किसी बंधन में

न रहूँगा, किन्तु संयम स्वीकार कर अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि महाव्रतों का पालन करूँगा और दूसरे लोगों को भी, यही मार्ग अपनाने का उपदेश दूँगा।

हे भ्राता, प्रत्येक प्राणी के सन्मुख दो बातें रहती हैं; एक श्रेय, दूसरी प्रेय। जो बातें इन्द्रियों और मन को प्रिय हैं, जिनकी ओर इन्द्रियां और मन स्वाभाविक ही प्रवृत्त होते हैं, जिनकी ओर इन्द्रिय और मन का आकर्षण होता है, वे प्रेय हैं; और जिनसे इन्द्रियों तथा मन की वृत्ति का पोषण नहीं होता, अपितु निरोध होता है, वे श्रेय हैं। प्राणी के सामने, ये दोनों ही बातें प्रस्तुत रहती हैं। वह, दोनों में से जिसे भी चाहे ले सकता है। यद्यपि इन्द्रियों और मन का झुकाव प्रेय की ही ओर होता है, लेकिन प्रेय को लेना, संसार के जन्म मरण के चक्कर को बढ़ाना है। श्रेय को न लेकर प्रेय को लेने से, इस संसार में पुनः पुनः जन्म-मरण करना होता है, और अनेक प्रकार के संयोग-वियोग का कष्ट, सहन करना पड़ता है। इसके विरुद्ध, प्रेय को त्याग कर श्रेय को अपनाने से, इन्द्रिय और मन की वृत्ति का पोषण तो नहीं होता है, लेकिन साथ ही, इन्द्रिय और मन की वृत्ति के पोषण से उत्पन्न कष्ट से भी बच जाता है, और अक्षय सुख प्राप्त करता है। श्रेय को अपनाने से आत्मा, वह ध्रुव और सुखप्रद स्थान प्राप्त करता है, जहां पहुँच जाने पर न जन्म-मरण का

भय है, न संयोग वियोग का दुःख। फिर वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

हे भ्राता, प्रेय को त्यागने और श्रेय को अपनाने से, इस प्रकार का लाभ है, फिर भी लोग, इस प्रकार मोह में पड़ रहे हैं, कि हानिकर प्रेय के लिए श्रेय को ठुकरा देते हैं। बल्कि, प्रेय के अभाव में, अपना जीवन ही निरर्थक मानने लगते हैं। प्रेय की रक्षा के लिए, श्रेय की हत्या तक कर डालते हैं। मैं, ऐसा करने वाले लोगों के सामने, यह आदर्श रखना चाहता हूँ, कि श्रेय के लिए प्रेय को तो त्याग दो, लेकिन प्रेय के लिए, श्रेय को मत भूलो। प्रेय में पड़कर, जन्म-मरण के कष्ट मत बढ़ाओ, किन्तु श्रेय को अपनाकर जीवन्मुक्त बनो।

तोरणद्वार की ओर जाते हुए लौट जाने पर, भगवान अरिष्टनेमि का आकर्षण, दो ओर से हो रहा था। एक ओर तो श्रीकृष्ण प्रभृति समस्त यादव, राजमती, या यों कहें कि सांसारिक विषय-भोग का आकर्षण था; और दूसरी ओर, पशुपक्षी आदि दुःखी जीवों की करुणा, यानी विषय-भोग का त्याग, भगवान को अपनी ओर खींच रहा था। एक ओर, बड़े-बड़े यादव लोगों का बल, प्रत्यक्ष लग रहा था और दूसरी ओर, दीन-दुःखी जीवों की करुणा, भगवान को अपनी ओर खींचने के लिए, यादवों के बल को असफल बनाने की चेष्टा कर रही थी। एक ओर यादव लोग भगवान

से कह रहे थे; कि बिना विवाह किये लौट जाने पर हम सब का अपमान होगा; और दूसरी ओर दुःखी जीव, अपने अन्तरात्मा द्वारा भगवान से प्रार्थना कर रहे थे, कि यदि आप विवाह की झंझट में पड़ गये, तो हम लोगों का रक्षक कोई न रहेगा; हमें आपही से रक्षा की आशा है; यदि आपने भी हमें निराश कर दिया, तो हम लोगों पर अब तक की तरह अन्याय होता ही रहेगा। इस प्रकार, दोनों ओर से परस्पर विरोधी आकर्षण था, परन्तु एक प्रबल था और दूसरा अप्रबल था। लेकिन अन्त में, यादव, राजमती, या विषय-भोग और अपमान के भय को, परास्त होना पड़ा। भगवान अरिष्टनेमि, इनसे आकर्षित नहीं हुए, किन्तु दीन-दुःखी जीवों की करुणा या विषय-भोग से विरक्ति ने, भगवान अरिष्टनेमि को अपनी ओर खींच लिया।

भगवान अरिष्टनेमि के उपदेश-पूर्ण उत्तर ने, सब यादवों को चकित कर दिया। यादवों पर, भगवान के उत्तर का अत्यधिक प्रभाव पड़ा और लगभग एक हजार यादवों पर तो ऐसा प्रभाव पड़ा, कि वे भी संसार को बन्धन समझकर, उससे विरक्त हो, भगवान अरिष्टनेमि का साथ देने के लिए तैयार हो गये। श्रीकृष्ण और दसों दशार्ह आदि भी, भगवान को रोकने की ओर से हतोत्साह हो गये। उनका साहस, भगवान अरिष्टनेमि से और कुछ कहने का न पड़ा।

श्रीकृष्णादि यादव लोग तो, भगवान अरिष्टनेमि को रोकने के लिए प्रयत्नशील थे, और उधर, उग्रसेन के महल में राजकुमारी राजमती, मूर्छित पड़ी थी। अनेक प्रयत्न द्वारा, मूर्छा दूर होने पर राजमती कहने लगी – धिक्कार है मेरे जीवन को ! जो प्राणनाथ मुझे छोड़ कर चले गये। हे प्राणनाथ ! हे हृदयेश्वर ! आप इस दासी को छोड़कर मत जाइयें। यदि आप, अभागिनी राजमती को छोड़कर चले गये, तो यह किसी ओर की न रहेगी।

राजमती को, इस प्रकार विलाप और प्रलाप करते देखकर, उसके माता-पिता, उसे समझाने लगे। वे, राजमती से कहने लगे– पुत्री राजमती, तू यह क्या वक रही है ! तुझे छोड़कर कौन जा रहा है ! जरा विचार तो सही, कि भगवान अरिष्टनेमि जव वारात साजकर तेरे साथ विवाह करने आये हैं, तो तेरे सें विवाह किये विना ही, वे, कैसे लौट जावेंगे ! जव वारात साज कर आये हैं, तो तेरे साथ विवाह करेंगे ही। यदि विवाह न करना होता, और विना विवाह किये ही लौटना होता, तो वे वारात साज कर तथा दूल्हा वनकर आते ही क्यों ! रही उनके लौटने की वात, लेकिन इसका कोई और कारण होगा ! और अभी वे, लौटकर गये ही कहां हैं! देख, वे सामने ही खड़े हैं। यदि अरिष्टनेमि, विना विवाह किये लौटना भी चाहेंगे, तो श्रीकृष्ण आदि यादव उन्हें लौटने कैसे देंगे ? कदाचित् अरिष्टनेमि, अपने सव माननीय यादवों

का आग्रह ठेल कर चले भी गये, तो इसमें अपनी क्या हानि है ? उन्हीं का उपहास है। फिर भी, अभी इस प्रकार की आशंका निष्कारण है। भगवान अरिष्टनेमि, अपने पिता काका, भ्राता, आदि का कहना न मानें यह सम्भव नहीं। इसलिए तू, अभी से निष्कारण अधीर मत हो।

मातापिता को, अपने सामने और इस प्रकार समझाते देखकर, राजमती कुछ सकुच सी गई। वह, चुपचाप उठकर फिर झरोखे के पास चली गई और सखियों के साथ, वहां से बारात तथा भगवान अरिष्टनेमि को देखने लगी; लेकिन उसके हृदय को धैर्य न था। अनिष्ट की आशंका, उसके हृदय में उथल-पुथल मचा रही थी। उसकी सखियां, उसे धैर्य बंधाने के लिए अनेक प्रकार की बातें कहती थीं, परन्तु इसका यथेष्ट परिणाम न निकला। सखियों की बातों से, राजमती की चिन्ता और आशंका न मिटी, किन्तु प्रति-क्षण बढ़ती ही गई।

श्रीकृष्ण प्रभृति यादवों द्वारा, भगवान को घिरे देखकर, कभी क्षण भर के लिए यह आशा होजाती थी, कि भगवान तोरणद्वार पर आवेंगे; लेकिन दूसरे ही क्षण आशंका से उत्पन्न निराशा, उस आशा को नष्ट कर देती थी। आशा और निराशा का, इसी प्रकार थोड़ी देर तक युद्ध होता रहा। राजमती के हृदय पर, कभी एक का आधिपत्य हुआ, तो कभी दूसरी का, परन्तु अन्त में आशा को

परास्त होना पड़ा और निराशा की विजय हुई। राजमती ने देखा, कि यादवगण भगवान के सामने से हट रहे हैं, वे भगवान को रोकने, या इस ओर लौटाने में समर्थ नहीं हुए हैं, और भगवान, बारात का साथ छोड़कर जा रहे हैं। यह देख कर राजमती फिर यह कहती हुई मूर्छित होकर गिर पड़ी, कि हाय! क्या भाग्य में यही बदा था। राजमती की सखियाँ राजमती को फिर मूर्छित होकर गिरती देख बहुत घबराईं और फिर उसकी मूर्छा हटाने का प्रयत्न करने लगीं।
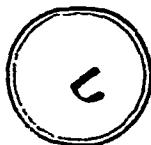
अस्वीकृता-राजमती

प्रेमी को, अपने प्रेमपात्र के वियोग से, या प्रेमपात्र के मिलने की आशा न रहने से, जो महान दुःख होता है, वह उसे मृत्यु से भी भयंकर दुःख अनुभव करता है। वह मृत्यु का दुःख, प्रसन्नता पूर्वक सह सकता है, उस दुःख में भी वह सुख मान सकता है, परन्तु प्रेमास्पद के वियोग का दुःख, प्रेमी को असह्य हो उठता है। इस दुःख से दुःखित होकर ही, अनेक प्रेमी पागल होजाते हैं और आत्महत्या तक कर लेते हैं। फिर चाहे वह प्रेम, धन से हो, जन से हो, या किसी ओर से। यह नियम, लगभग सभी जगह देखने में आता है। बल्कि, जो जिससे जितना अधिक प्रेम करता है, उसे उसके वियोग या प्राप्ति की निराशा से, उतना ही अधिक दुःख होता है।

राजमती, भगवान अरिष्टनेमि से प्रेम करती थी। वह, भगवान अरिष्टनेमि की अनन्य उपासिका बन चुकी थी, लेकिन सहसा,

उसकी आशा-लता पर तुषार-वृष्टि हो गई। भगवान अरिष्टनेमि, बारात के साथ मौर बांधकर आये, लेकिन वे तोरणद्वार से कुछ दूर रह कर ही लौट गये। इस घटना से राजमती के हृदय को कैसा दुःख हुआ होगा, इस बात को तो केवल वही व्यक्ति जान सकता है, जो किसी से अत्यधिक प्रेम करता हो फिर भी, उस प्रेमपात्र से उसका वियोग हो गया हो, या उसके मिलने की आशा न रही हो।

श्रीकृष्ण, समुद्रविजय, वसुदेव प्रभृति समस्त यादव, भगवान अरिष्टनेमि को रोकने में असमर्थ हुए। भगवान अरिष्टनेमि के उपदेश से प्रभावित होकर, सब लोगों ने, भगवान का मार्ग छोड़ दिया। मार्ग मिलते ही, भगवान अरिष्टनेमि, अपने महल के लिए चल पड़े; केवल बारात ही रह गई। दुलहा-विहीन बारात कैसी शोभा-रहित हो जाती है और उस समय. बारातियों के हृदय में कैसे-कैसे विचार होते हैं, उनके हृदय में कितनी लज्जा तथा कैसी निराशा होती है, इस बात को, प्रत्येक गृहस्थ अनुमान से सहज ही जान सकता है। यही दशा, भगवान अरिष्टनेमि की बारात और बारात में आये हुए लोगों की हुई, परन्तु विवशता थी।

भगवान अरिष्टनेमि के चले जाने से, बारातियों की तो उक्त दशा हुई ही. लेकिन उग्रसेन आदि को भी बहुत ही निराशा हुई; और जिसके साथ भगवान का विवाह होने वाला था, उस राजमती की

दशा का तो कहना ही क्या है! वह तो, भगवान को वारात से बाहर निकलते देख कर ही, मूर्छा खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। सखियों के बहुत प्रयत्न करने पर, उसकी मूर्छा दूर हुई, लेकिन उसे मूर्छित-अवस्था की अपेक्षा, जागृत-अवस्था अधिक दुःखदायिनी प्रतीत हुई। उसके हृदय को, धैर्य न था। वह, जागृत होते ही, विलाप करती हुई कहने लगी—हाय! मैं क्या सोचती थी, मेरी भावना क्या थी, मेरा हृदय आशा से उत्पन्न प्रसन्नता से कैसा आह्लादित हो रहा था, और मेरी आंखें कैसी आतुर थीं! मुझे नहीं मालूम था, कि एक ही क्षण में कुछ से कुछ हो जावेगा। मेरा मन, भगवान की पत्नी बनने की उत्कण्ठा में था। मेरी आँखें, भगवान का दर्शन करने को आतुर थीं; और मेरा हाथ, भगवान द्वारा ग्रहण किया जाने की प्रतीक्षा कर रहा था। परन्तु यह सब, व्यर्थ हुआ। भगवान, मुझे स्वीकार किये बिना ही चले गये। मेरी आँखों की आतुरता, न मिट पाई। हाथ की आशा, निराशा में परिणत हो गई। मन की भावना, मन में ही रह गई। यह सब क्यों हुआ! भगवान ने मुझे, क्यों नहीं अपनाया! मैंने क्या अपराध किया था! हे नाथ! हे प्रभो! हे करुणासागर! आपने उन बन्धन में पड़े हुए पशु-पक्षियों पर तो करुणा की, और मुझ अभागिनी को करुणा से क्यों वंचित रखा! हे श्याम! मेरे नेत्र पूरी तरह आपका दर्शन भी न कर पाये। आप, इस दासी पर दया करके,

इसे दर्शन तो दे जाते ! हे प्यारे ! आप मेरा अपराध तो बता जाते ! क्या मैं, आपका दर्शन करने योग्य भी न थी ! क्या पापिनी राजमती को, आप दर्शन देना भी उचित न समझते थे ! जब आप ही ने मुझे नहीं अपनाया, तो अब मेरा संसार में कौन रहा ! जब मेरी आशा पर ही वज्र गिर पड़ा, तब मेरा जीवन किस काम का ! अब तक मैं जिस आशा-अंकुर को सींचती रही, उसके फल के समय, वृक्ष पर ही तुषार-वृष्टि हो गई ! यदि आप मुझे नहीं अपनाना चाहते थे, यदि आपकी दृष्टि में, मैं इस योग्य न थी, तो आपने मेरी आशा को बढ़ने ही क्यों दिया था ! यदि मेरी आशा पहले से ही न बढ़ने पाती, तो आज मुझे इस सन्ताप का लक्ष्य क्यों होना पड़ता ! हे नाथ ! हे हृदयसर्वस्व ! मुझे आशा थी, कि मैं, महाराजा समुद्रविजय, तथा महारानी शिवादेवी की पुत्रवधू, श्रीकृष्ण वासुदेव, तथा राम बलदेव की अनुजवधू और यदुकुल-भूषण भगवान अरिष्टनेमि की धर्मपत्नी बनूंगी, लेकिन मेरी ये समस्त आशाएं, पानी के बुदबुदे की तरह विलीन हो गई। आप, मुझे दूर से ही दर्शन देकर लौट गये। जिनका अच्छी तरह से दर्शन करने को मैं लालायित थी; मैं, अपने को जिनके चरण-कमल की दासी बना चुकी थी, और जिनकी सेवा करने को, मैं उत्सुक थी, हे प्राणेश ! वे आप, मुझे उपेक्षा-पूर्वक त्याग गये ! मुझ से बात भी न की ! मेरे इस घर तक भी न आये ! मेरे लिये कोई

सन्देश भी नहीं दिया ! मुझे कोई मार्ग भी नहीं बताया ! हे जीवन-आधार ! आपने चाहे मुझे अपराधिन जानकर ही त्यागा हो, मैं हूँ तो आप ही की। आपके सिवा, मेरे लिए दूसरी गति नहीं है। चाहे आप मुझे अपने समीप रखें, मेरा सम्मान करें, या अपमान करें, और मेरे को अपनी मानें या न मानें; मैं तो पहले से ही आपकी हो चुकी हूँ। अब मेरी जीवन-नौका, चाहे आप पार लगाइये या मँझधार में डुबाइये, यह आपको अधिकार है !

राजमती, इसी प्रकार की बातें कह कह कर दुःख करने लगी। उसकी सखियां, उसे समझाने के लिए अनेक प्रकार की बातें करने लगीं, उसे धैर्य दिलाने के लिए, अनेक उपाय करने लगीं; परन्तु राजमती को किसी प्रकार धैर्य न हुआ।

सखियों के समझाने पर, वह, अपनी एक सखी से कहने लगी-सखी, मैं एक ओर विचारती हूँ, तब तो मुझे प्रसन्नता होती है, लेकिन दूसरी ओर देखती हूँ तो दुःख होता है। प्राणनाथ ने, मुझे गौरव प्रदान किया – मुझे सब स्त्रियों में श्रेष्ठ माना – यह विचार कर तो मुझे प्रसन्नता होती है। संसार में अनेक कन्याएँ हैं, लेकिन भगवान, उनमें से किसी के लिए भी, इस प्रकार बारात साज कर नहीं गये। केवल मेरे ही लिए पधारे। वासुदेव, समुद्र-विजय प्रभृति श्रेष्ठ यादवों और स्वयं भगवान ने, मुझे ही इस योग्य माना। साथ ही भगवान, दुःखी जीवों की करुणा से प्रेरित

होकर संसार में करुणा का प्रचार करने, दुःखी जीवों को शरण देने, तथा संसार के जीवों को आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर करने, और स्वयं भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए गये हैं, यह भी मेरे लिए गौरव की बात है।

जब मैं यह विचारती हूँ, कि भगवान ने, दुःखी जीवों की करुणा के लिए ही मुझे त्यागा है, तब तो मेरे हर्ष का पार ही नहीं रहता। उस समय मैं अपने आप को, बड़ी सद्भागिनी मानती हूँ और सोचती हूँ, कि मैंने स्वयं को जिनके समर्पण किया है, उनकी समता करनेवाला आज तक संसार में कोई हुआ ही नहीं। पशुपक्षियों की करुणा के वास्ते, युवावस्था में, वह भी ठीक लग्न के समय; विवाह न करके आज तक कौन संसार से विरक्त हुआ है? केवल भगवान अरिष्टनेमि ही ऐसे निकले हैं। सखी, मुझे जब इस तरह के विचार होते हैं, तब तो प्रसन्नता होती है, लेकिन जब इस बात का ध्यान होता है, कि भगवान मुझे वरे बिना तोरणद्वार पर से ही क्यों चले गये, उस समय मेरे को बड़ा ही दुःख होता है। भगवान मुझे बिना वरे ही चले गये, यह ध्यान होने पर, मेरे हृदय में बहुत दुःख होता है। तब मुझे यह विचार होता है, कि यदि भगवान मुझे वर लेते, मेरा पाणिग्रहण कर लेते और फिर जाते, तो क्या हर्ज था! मैं, सांसारिक विकारों की पूर्ति के लिए ही तो, भगवान की अर्धांगिनी बनती नहीं थी; इसलिए भगवान, मुझको वर कर

कह सकते थे, कि मैं सांसारिक विषय-भोगों को त्याग कर, संसार में करुणा का प्रचार करने, भव्य जीवों को कल्याण का मार्ग बताने और मुक्ति रूपा लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए जाता हूँ। यदि भगवान, मुझको वर कर फिर जाते, तो क्या मैं उन्हें रोकती ! क्या मैं उनके लिए मोक्ष मार्ग में बाधा पहुँचाने वाली होती ! यदि नहीं; तो फिर भगवान मुझे वर कर क्यों नहीं गये; इस बात का मुझे अत्यधिक दुःख है। मैं समझती हूँ, कि भगवान ने मुझे जाना तो सही, इसीलिये उन्होंने मुझे गौरवान्वित किया, किन्तु पूरी तरह नहीं जाना, इसीलिए उनने यह विचार कर मुझे नहीं वरा, कि फिर यह मेरे मोक्ष-पथ में बाधा रूप हो जावेगी। यदि इसी विचार से भगवान मुझे वर कर नहीं गये, तो मैं यही कहूँगी, कि उन्होंने मुझे पूरी तरह नहीं पहचाना। मैं, क्षत्रिय-कन्या हूँ। क्षत्रिय-कन्या, अपने पति को-यदि वह युद्ध से भय खाता है तो-नम्रतापूर्ण किन्तु मर्म भरे वचनों से युद्धोन्मुख कर देती है, और युद्ध के लिए पति को अपने हाथों सुसज्जित करके, उसे रणस्थल में भेज देती है, जहां प्राणों की बाजी है। जब हम, पति को उस समय भी नहीं रोकतीं किन्तु प्रेरणा करके भेजती हैं, तब मैं, कर्म-शत्रुओं से युद्ध करके जीवन्मुक्त होने के लिए, पति को जाने से क्यों रोकती ! मैं, उन्हें प्रसन्नता से विदा करती। लेकिन सखी; पति ने मुझे क्यों नहीं वरा, यह कारण मैं अब समझ सकी हूँ। मैं, अब तो यह

कहती हूँ, कि पति मुझे वर कर जाते, तो मैं स्वयं ही उनको विदा कर देती, परन्तु जब वे मुझे वर लेते, तब मेरे हृदय में शायद इस प्रकार का विचार न रहता, और फिर उन्हें रोकने के लिए मैं, अपने नेत्रों से आंसू गिराती। उनसे दया-भिक्षा मांगती, उनके पैर पकड़ लेती और यही प्रार्थना करती, कि आप मुझे छोड़कर मत जाइये। सखी, जो ऐसे दयालु हैं, कि पशुपक्षियों को भी दुःखित नहीं देख सके, उन्हें भी दुःख-मुक्त कर दिया, वे मेरी आंखों से निकलते हुए आंसुओं को कैसे देख सकते! मुझे दुःखित देखकर भी, कैसे चले जाते! मुझे रुदन करती हुई कैसे छोड़ जाते! इस प्रकार पति के लिए, मैं बाधक ही सिद्ध होती। कोमल-हृदय भगवान ने, इसीलिए मुझे नहीं वरा और द्वार पर से ही चले गये।

राजमती की सखियाँ. राजमती की बातें सुनकर आश्चर्य करने लगतीं और उसे पुनः पुनः धैर्य रखने, तथा भगवान को विस्मृत करने के लिए समझाया करतीं।, परन्तु राजमती का दुःख, किसी भी प्रकार कम नहीं हुआ। वह भगवान के विरह में दुःखित रहती हुई सखियों पर अपनी विरह-वेदना प्रकट करती और भगवान का ही गुण गान करती।

१

परिवर्तन

सज्जन मनुष्यों का, यह सहज स्वभाव होता है, कि वे दूसरे के लाभ को स्वयं का लाभ, और दूसरे की हानि को स्वयं की हानि मानते हैं। वे. दूसरे का हित देखकर प्रसन्न होते हैं हैं और दूसरे का अहित देखकर दुःखी दूसरे के हिताहित को वे, अपना ही हिताहित मानते हैं। बल्कि. स्वयं के हिताहित से वे प्रसन्न या दुःखी नहीं होते, परन्तु दूसरे का अहित देख सुनकर दुःखी और दूसरे का हित या दूसरे को सुखी देखकर, प्रसन्न होना उनका स्वभाव ही होता है। किसी दूसरे को दुःखी, या उसका अहित देखकर वे यह भावना भी नहीं लाते कि अब इस समय अपने को अपना अमुक स्वार्थ साध लेना चाहिए। वे, दूसरे के हित के लिए अपना स्वार्थ तक त्याग देते हैं; दूसरे के अहित से अपना स्वार्थ साधने की तो बात ही अलग है। इसके विरुद्ध दुर्जनों का स्वभाव सज्जनों के स्वभाव

से सर्वथा विपरीत होता है। वे दूसरे के लाभ से अपनी हानि, और दूसरे की हानि से अपना लाभ मानते हैं। दूसरे को सुख में देख कर दुःखी होते हैं, और दूसरे को दुःख में देखकर, प्रसन्न होते हैं। किसी को विपत्ति में देखकर, सज्जन लोग तो उसकी सहायता करते हैं, उसकी विपत्ति मिटाने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन दुर्जन लोग, उस दूसरे की विपत्ति को अपनी स्वार्थ-पूर्ति का एक साधन मानते हैं, और समझते हैं, कि हमारा कार्य सिद्ध होने के लिए ही, इस पर ऐसी विपत्ति आई है। इन्हीं वातों को दृष्टि में रखकर, एक कवि दुर्जनों की निन्दा करता हुआ कहता है।

विष धरतोऽप्यति विषमः खल इति न मृषा वदन्ति विद्वांसः।
यदय न कुल द्वेषी सकुल द्वेपी पुनः पिशुनः॥

सज्जनता या दुर्जनता, स्वयं के संस्कारों से ही—स्वयं के स्वभाव से ही—होती है। इससे, कुल, जाति, या माता पिता का बहुत अधिक संवन्ध नहीं है। एक ही कुल, एक ही जाति और एक ही माता-पिता से भी, दोनों प्रकार के मनुष्य उत्पन्न होते हैं। जिस स्वाति के जल-विंदु से, सीप में मोती उत्पन्न होता है, उसी से सांप में विष भी उत्पन्न होता है। रावण और विभीषण, एक ही पिता के पुत्र थे। कौरव और पाण्डव, एक ही कुल के थे, और कंस तथा अतिमुक्त मुनि भी, एक ही माता-पिता से उत्पन्न हुए थे; फिर भी, दोनों के स्वभाव और विचारों में कैसी विषमता थी! इससे

स्पष्ट है, कि दुर्जनता-सज्जनता का कारण, स्वयं का स्वभाव है, इस विषय में कुल, वंश या माता—पिता ही कारण नहीं है। यद्यपि सन्तान में, माता-पिता का स्वभाव भी आता है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता, कि सन्तान में माता पिता के गुण दुर्गुण आते ही हैं। कभी ऐसा होता भी है, और कभी नहीं भी होता।

भगवान अरिष्टनेमि के छोटे भाई का नाम, रथनेमि था। यद्यपि रथनेमि और भगवान अरिष्टनेमि दोनों सहोदर भ्राता थे, लेकिन दोनों के विचारों में अत्यधिक विषमता थी। भगवान अरिष्टनेमि, जिन विचारों के थे, वे तो इस कथा से ज्ञात हो ही गये, लेकिन रथनेमि के विचार, उन यादवों के ही समान थे, जो स्त्री-भोग द्वारा मनुष्य जन्म सार्थक मानते थे; तथा इसके लिए, उचित अनुचित सब कुछ कर सकते थे। भगवान अरिष्टनेमि, राजमती से विना विवाह किये लौट गये इससे और सब यादवों को तो खेद हुआ, परन्तु रथनेमि को प्रसन्नता हुई। उनको, उत्पन्न परिस्थिति से अनुचित लाभ उठाने का लालच हो ही आया। वे सोचने लगे, कि राजमती ऐसी उत्कृष्ट सुन्दरी को छोड़ कर भ्राता चले गये, इससे जान पड़ता है, कि वे स्त्रियों के परीक्षक भी नहीं हैं और शृंगार-रस के रसिक भी नहीं हैं। अन्यथा, राजमती के साथ विवाह किये विना ही, वे, क्यों लौट जाते। यदि उन्हें दीक्षा लेनी थी, तो राजमती के साथ विवाह करके, सुख भोगने के पश्चात् दीक्षा लेते!

संसार के इस आनन्द को ठुकरा कर, तथा राजमती को न विवाह कर, भ्राता ने, वहुत गलती की है। उस उग्रसेनदुलारी राजमती को, मैंने देखा है। वह षोडशी, अत्यधिक सुन्दरी है। मैंने तो राजमती की समता करनेवाली सुन्दर-स्त्री, आज तक देखी ही नहीं। ऐसी सुकुमारी और नवयौवना राजमती को त्यागने की भूल, यदि कोई कर सकता है, तो केवल वही कर सकता है, जो स्त्री-रत्न का परीक्षक नहीं है। मैं तो, उसको देखकर आश्चर्य-चकित रह गया। मेरा मन, मेरे हाथ से निकल गया था; परन्तु भ्राता के साथ उसका विवाह हो रहा था इसलिए विवश था। लेकिन भ्राताजी तो, राजमती को त्याग गये। अव राजमती क्या करेगी? भ्राताजी के साथ उसका विवाह तो हुआ नहीं है, वह तो अभी कुमारी ही है, अतः अवश्य ही उसका विवाह किसी दूसरे के साथ होगा। लेकिन जब उसका विवाह किसी दूसरे के साथ होगा ही, तव मैं ही उसके साथ विवाह क्यों न करलूँ? ऐसे उत्कृष्ट कन्या-रत्न को, किसी दूसरे के हाथ जाने देने, और जो कन्या यदुकुल की वधू वनने वाली थी, उसे किसी दूसरे की वधू वनने देने की अपेक्षा, उसके साथ मुझे अपना विवाह कर लेना, किसी प्रकार अनुचित भी न माना जावेगा। मेरा जहां तक अनुमान है, राजमती, प्रसन्नता-पूर्वक मुझे अपना पति वनाना स्वीकार करेगी। इसलिए, मुझे इस ओर प्रयत्नशील वनना चाहिए।

इस प्रकार विचार कर रथनेमि ने, राजमती के पास, अपने विवाह का प्रस्ताव भेजने का निश्चय किया। इसके लिए उन्होंने, एक ऐसी दूती को तैयार किया, जो उग्रसेन के महल में आया जाया करती थी और राजमती से परिचित भी थी। रथनेमि ने, उस दूती को अपना प्रस्ताव सुनाकर उससे कहा, कि यदि तू राजमती से मेरा यह प्रस्ताव स्वीकार करा लावेगी, तो मैं तुझे खूब पुरस्कार दूँगा।

पुरस्कार के लोभ से दूती, रथनेमि का विवाह-प्रस्ताव लेकर, राजमती के महल में गई। उसने जाकर, राजमती से कहा, कि मुझे आप से एकान्त में कुछ कहना है। राजमती, सरल स्वभाव की थी। यह एकान्त में मुझ से क्या कहना चाहती है, इसका वह अनुमान भी न कर सकी, न उसको कोई ऐसा कारण ही दिखाई दिया, कि जिससे वह, उस स्त्री के साथ एकान्त में बात-चीत करने से इनकार कर देती। राजमती, उसे महल में ही एक ओर लेगई, और उसने दूती से कहा, कि अब तुझे जो कहना है, वह कह।

दूती कहने लगी—राजकुमारी, जिनके साथ आपका विवाह-सम्बन्ध होने वाला था, वे अरिष्टनेमि, आपसे विवाह किये बिना ही चले गये, यह तो आप जानती ही हैं। अब वे लौट कर आवेंगे, और उनके साथ आपका विवाह होगा, इसकी भी कोई आशा नहीं है। ऐसी दशा में, आप अपनी यह शरीर-सम्पत्ति उनके लिए क्यों नष्ट कर रही हैं? इससे, कुछ लाभ भी तो नहीं होना

है! इसके सिवा, जिस पुरुष के हृदय में संसार से विरक्ति है, उसके साथ विवाह करके, कौन स्त्री सुख पा सकती है? इसलिए आप, अपनी यह युवावस्था और अपना यह सौन्दर्य, उनके पीछे नष्ट मत होने दीजिये; किन्तु किसी दूसरे अच्छे पुरुष को इसका स्वामी वनाकर, संसार का आनन्द भोगिये। अरिष्टनेमि ने, आपके इस रूप-लावण्य का तिरस्कार कर दिया तो क्या हुआ, उनके द्वारा अनादर होने से, आपका रूप-लावण्य कुछ दूषित नहीं हो सकता। अरिष्टनेमि ऐसे, वल्कि अरिष्टनेमि से भी अच्छे, सैकड़ों पुरुष आपको पाने के लिए लालायित हैं। और तो और, अरिष्टनेमिजी के छोटे भाई रथनेमिजी ही, आपके साथ विवाह करने की अभिलाषा करते हैं। वे, अरिष्टनेमि की अपेक्षा सुन्दर भी है और युवक भी हैं। अरिष्टनेमिजी श्यामवर्ण के हैं, परन्तु रथनेमि, गौर वर्ण के हैं। रथनेमि की अवस्था भी, अरिष्टनेमि की अवस्था से कम है। इस प्रकार अरिष्टनेमिजी की अपेक्षा, रथनेमिजी, सब प्रकार से उपयुक्त वर हैं। उन्होंने, मेरे द्वारा आपके पास, विवाह-प्रस्ताव भी भेजा है। मैं, आपको सम्मति देती हूँ, कि आप रथनेमिजी का विवाह-प्रस्ताव स्वीकार कर लीजिये, इस प्रकार शरीर को क्षीण मत करिये।

दूती की बात सुनकर, राजमती के शरीर में, सन्नाटा सा दौड गया। वह विचारने लगी, कि क्या रथनेमिजी, अपने भ्राता

द्वारा परित्यक्त-स्त्री से विवाह करने को तय्यार हैं! क्या उनका इतना पतन है! उन्हें यह भी विचार नहीं हुआ, कि वह स्त्री होकर भी मेरे भ्राता के सम्बन्ध का इतना विचार रखती है, और मैं पुरुष होकर भी, अपने भ्राता के सम्बन्ध का विचार नहीं रखता! रथनेमि, कुलीन हैं, भगवान् अरिष्टनेमि के छोटे भाई हैं, अतः मुझे जो कुछ भी उत्तर देना है, स्वयं उन्हें ही क्यों न दूँ! इस दूती को, किसी प्रकार का उत्तर देने से क्या लाभ! वे स्वयं जब मेरे सामने होंगे, और मैं, युक्तिपूर्वक उनके प्रस्ताव को अस्वीकार करूँगी, तब सम्भव है, कि उनका हृदय सदा के लिए शुद्ध होजावे।

इस प्रकार विचार कर, राजमती ने उस दूती से कहा, कि— रथनेमिजी मुझे चाहते होंगे, लेकिन मैं, उनके द्वारा किये गये विवाह-प्रस्ताव का उत्तर तुम्हें न दूँगी, किन्तु रथनेमिजी को ही दूँगी। अतः तुम उनसे कह दो, कि वे स्वयं ही आकर अपने प्रस्ताव का उत्तर ले जावें, तथा अपने साथ कोई ऐसा पेय पदार्थ अवश्य लेते आवें, जो उनको अधिक से अधिक प्रिय हो। इस विषय में मैं, उनके सिवा किसी और से, बात भी न करूँगी!

राजमती ने, दूती को यह उत्तर किसी दूसरे ही अभिप्राय से दिया था, किन्तु राजमती के उत्तर से, दूती ने यह आशय निकाला, कि जब राजमती स्वयं ही रथनेमि को अपने यहां बुला रही है, तब विवाह-प्रस्ताव स्वीकार करने में शेष ही क्या रहा! वह, प्रसन्न

होती हुई रथनेमि के पास आई। उसने, रथनेमि को राजमती का उत्तर सुनाकर कहा, कि—मेरी समझ से राजमती, आपके विवाह-प्रस्ताव को स्वीकार कर लेगी। सम्भवतः उसने, आपको देखने के लिए ही बुलाया है, और पेय (पीने का) पदार्थ शायद यह देखने को मंगवाया है, कि आप उसकी इच्छा पूरी करते हैं, या नहीं! अतः आप, कोई उत्तम पेय पदार्थ लेकर, राजमती के यहां जाइये। मुझे विश्वास है, कि वह आपको देखते ही, पति रूप स्वीकार लेगी।

दूती द्वारा राजमती का उत्तर सुनकर, रथनेमि बहुत ही प्रसन्न हुए। वे, अपने मन में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करने लगे, और उन कल्पनाओं में ही आनन्द मानने लगे। उनका हृदय, राजमती के यहाँ जाने, और राजमती द्वारा अपने प्रस्ताव की स्वीकृति सुनने के लिए उत्सुक हो उठा।

रथनेमिजी, अपने शरीर पर अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण साज-कर, राजमती के यहाँ चले। उनके साथ ही, एक सेवक, रत्न जटित स्वर्णथाल में कटोरे के भीतर कोई पेय पदार्थ रखकर, और ऊपर से बहुमूल्य तथा सुन्दर वस्त्र ढाँककर, ले चला। बड़ी उमंग के साथ रथनेमिजी, राजमती के महल में गये।

राजमती ने, रथनेमि का सत्कार किया। वह, उनसे कहने लगी कि:—वास्तव में आप, सब प्रकार अच्छे हैं। दूती, ठीक ही

कहती थी। जब से मेरे पास, दूती द्वारा आपका विवाह-प्रस्ताव आया, तभी से मैं आपकी प्रतीक्षा कर रही थी। प्रसन्नता की बात है, कि आपने, मेरे लिए यहाँ पधारने का कष्ट किया।

राजमती की बातें सुनकर, रथनेमि के हृदय में, आनन्द की लहरें उठ रही थीं। वे, अपने मन में फूले नहीं समाते थे, और सोचते थे, कि अच्छा हुआ जो इसके साथ भ्राता का विवाह नहीं हुआ, और वे द्वार पर से ही लौट गये! जान पड़ता है, कि यह सौन्दर्य की प्रतिमा मेरे ही भाग्य में थी, इसी से भ्राता ने इसके साथ विवाह नहीं किया; अन्यथा, यह त्रिलोक-सुन्दरी मुझे कैसे प्राप्त होती!

राजमती की बात समाप्त होने पर, रथनेमि कहने लगे – राजकुमारी, मैंने आपके सौन्दर्य और आपकी चातुरी की जो प्रशंसा सुनी थी, वह बिल्कुल सत्य निकली, यह जान कर मुझे बड़ी प्रसन्नता है। आप, सचमुच संसार में अद्वितीय सुन्दरी हैं। मैंने, जब से आपके सौन्दर्य की प्रशंसा सुनी, और आपको देखा, तभी से मेरे हृदय में आपके साथ विवाह करने की इच्छा उत्पन्न हो गई थी, परन्तु बीच में भ्राता का सम्बन्ध आपके साथ ठहर गया था, इससे मुझे अपनी इच्छा दबा देनी पड़ी थी। लेकिन जिसको जिससे सच्ची लगन होती है वह उसे मिल ही जाता है। शायद यह बात सही ठहरने के लिए ही, भ्राता, आपके साथ विवाह किये

विना ही लौट गये, और मुझे इस सौभाग्य का सुअवसर प्राप्त हुआ। यद्यपि मुझे पूर्ण विश्वास है, कि आप मेरा प्रस्ताव स्वीकार ही करेंगी, लेकिन मैं आपके मुख से उसकी स्वीकृति सुनने को उत्सुक हूँ।

रथनेमि की बातें सुनकर, राजमती, अपने हृदय में विचार कर रही थी, कि-हाय! संसार में पुरुषों का इतना पतन है! मेरे रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर, ये अपने भाई का भी अनिष्ट चाहते थे! इनके हृदय का भ्रातृ-स्नेह भी, सूख गया था! भगवान ने, मुझे किसी भी कारण से त्यागा हो, किन्तु उनके त्याग को इन्होंने अपना सौभाग्य माना! धिक्कार है उस मोह को, जिसके प्रताप से ऐसे, और इससे भी भयंकर पाप होते हैं। भगवान्, मेरे साथ विवाह किये विना ही लौट गये, लेकिन यदि विवाह कर लेते, तो ऐसे मोह-ग्रस्त भाई द्वारा, उनकी हत्या की चेष्टा होना भी, कोई असम्भव बात न होती।

राजमती ने, रथनेमि से कहा – मैंने, आपके प्रस्ताव का उत्तर देने के लिए तो आपको बुलाया ही है। आप धैर्य रखिये; लेकिन मैंने प्रस्ताववाहिका से यह कहा था, कि आप, अपने साथ मेरे लिए कोई प्रिय से प्रिय पेय पदार्थ भी लेतें आवें। क्या आप कोई पेय पदार्थ लाये हैं?

रथनेमि—हां-हां, मैं आपकी इस सर्व प्रथम आज्ञा का उल्लंघन

कैसे कर सकता था! आपने, मेरे प्रेम की परीक्षा के लिए एक तुच्छ वस्तु ही मँगवाई, लेकिन यदि आप, कोई बड़ी से बड़ी वस्तु भी मँगवातीं, तो मैं उसे भी लाने का प्रयत्न करता। यहाँ तक कि यदि आप मेरे प्राण माँगतीं, तो मैं, वह भी आपकी भेंट करने में न हिचकिचाता।

यह कह कर रथनेमि ने सेवक के पास से थाल ले लिया और उस पर का वस्त्र हटाकर; उसमें रखा हुआ पेय पदार्थ का कटोरा, राजमती के सामने किया। मुसकराती हुई राजमती ने, थाल में से पेय पदार्थ का कटोरा उठा लिया। उसने विचारा, कि इस समय रथनेमि, अत्यधिक मोहग्रस्त हैं। ये, मोह की सबसे ऊँची सीढ़ी पर पहुँच चुके हैं। इस समय, यदि इन्हें मोह की उस सीढ़ी से गिराकर उपदेश दिया जावेगा, तो बहुत अच्छा प्रभाव होगा। जो एक ओर जितने ऊपर से गिरता है, वह दूसरी ओर उतना ही ऊपर चढ़ता है। यह नियम ही है।

इस प्रकार विचार कर राजमती, रथनेमि का लाया हुआ पेय पदार्थ पी गई, और ऊपर से, पास ही रखी हुई ऐसी औषध खागई, जिसमें तत्काल वमन कराने का गुण था। राजमती को, अपना लाया हुआ पेय पदार्थ पीते देखकर, रथनेमि की प्रसन्नता, और भी बढ़गई। वे विचारते थे, कि मेरा प्रस्ताव राजमती ने मान लिया है। मेरी लाई हुई भेंट को स्वीकार कर लेना, बल्कि

तत्काल ही पीजाना, मेरा प्रस्ताव मानने का प्रमाण है; लेकिन इसने, यह पेय पदार्थ मंगाकर, किन भावों को व्यक्त करने के लिए पिया है ! शायद इसने यह बताया है, कि जिस तरह मैं; आपके इस पदार्थ को अपने में स्थान देती हूँ, उसी तरह आपको भी अपने हृदय में स्थान देती हूँ।

रथनेमि, इसी तरह की कल्पनाएं करते हुए, अपने हृदय में हर्षित हो रहे थे। उनका अनुमान था, कि अब राजमती के मुंह से यही निकलने वाला है, कि मैंने आपका प्रस्ताव इसी तरह स्वीकार कर लिया है, जिस तरह आपके लाये हुए पेय पदार्थ को स्वीकार कर लिया है; लेकिन क्षण भर के बाद ही, उनकी यह आशा मिट्टी में मिल गई। उन्होंने देखा, कि राजमती के मुंह से, स्वीकृती के शब्द निकलने के बदले, मेरा लाया हुआ वही पेय पदार्थ निकल रहा है, जिसे इसने क्षण भर पहले पिया था; और उस वमन को राजमती, उसी कटोरे में ले रही है, जिसमें रखकर मैं, वह पेय पदार्थ लाया था। यह देखते ही रथनेमि, कांप-से उठे। वे, इस दृश्य के विषय में, कुछ भी निश्चय न कर सके। उन्हें, इस आशंका से खेद हो रहा था, कि कहीं मेरे लाये हुए इस पदार्थ में कोई दूषण तो नहीं था, जिससे राजकुमारी को वमन हो गई ! वे इस तरह सोच ही रहे थे, इतने ही में राजमती ने, वह वमन से भरा हुआ कटोरा

रथनेमि के सामने किया, और उनसे कहा-राजकुमार, लीजिये, यह पी लीजिये !

वमन के कटोरे को अपने सामने देखकर, रथनेमि, पीछे की ओर हट गये। क्रोध ने, उनके हृदय की सारी प्रसन्नता को नष्ट कर दिया, और उसके स्थान पर, अपना आधिपत्य जमा लिया। उनकी आंखें, लाल होगई। होंठ, फड़कने लगे। वे, उसी क्रोधावेश में राजमती से कहने लगे, कि-तुम्हें अपने रूप लावण्य का इतना गर्व है ! तुम, किसी भद्रपुरुष को अपने यहां बुलाकर, उसका इस तरह अपमान करती हो ! क्या तुमने, मुझे कौआ या कुत्ता समझ रखा है, जो अपने द्वारा वमन की गई वस्तु, पिलाना चाहती हो !

रथनेमि की क्रोध पूर्ण बातें सुनकर, राजमती ने, उन्हें उपदेश देने का अच्छा अवसर समझा। उसने, रथनेमि से कहा—राजकुमार, क्रुद्ध मत होइये, धैर्य रखिये। यह तो मैं, आपके प्रेम की परीक्षा कर रही हूँ। मैं जानना चाहती हूँ, कि आप वास्तव में मेरे साथ विवाह करना चाहते हैं, या केवल यों ही कह रहे हैं।

रथनेमि – क्या इसकी परीक्षा का यही साधन था ?

राजमती – हाँ।

रथनेमि – वाह ! परीक्षा का बड़ा अच्छा उपाय सोचा ! संसार में, और कोई उपाय तो जैसे था ही नहीं !

राजमती – इस उपाय के सिवा, आपके प्रेम की परीक्षा हो ही नहीं सकती थी। यदि आप, इस कटोरे में के पदार्थ को पी जाते, तो मैं समझती, कि आप मुझे अपना सकेंगे।

रथनेमि – क्या मैं वमा हुआ पदार्थ पी जाता ?

राजमती – वमा हुआ पदार्थ है, तो क्या हुआ ! है तो वही न, जो आप लाये थे, और जो आपको अत्यधिक प्रिय है। इसके रंग, रूप, या स्वाद में भी कोई अन्तर नहीं आया है; क्योंकि, यह तो केवल मेरे पेट तक गया ही था, और वैसे ही निकल आया है !

रथनेमि – तब भी क्या हुआ, है तो वमन किया हुआ ही न ?

राजमती – लेकिन जो मेरे साथ विवाह कर सकता है, उसके लिए, वमन किया हुआ पदार्थ पीना कोई कठिन कार्य तो नहीं है !

रथनेमि – क्यों ?

राजमती – इसलिए, कि जिस प्रकार यह पदार्थ मेरे द्वारा वमन किया हुआ है—त्यागा हुआ है—उसी प्रकार, मैं भी, आपके बड़े भ्राता द्वारा त्यागी हुई हूँ। आप, मुझसे बहुत प्रेम करते हैं, इसलिए मुझे तो दूसरे के द्वारा त्यागी हुई होने पर भी अपनाने को तयार हैं, फिर इस पदार्थ ने कौनसा अपराध किया है, जो इसे आप नहीं अपनाते ? यह भी तो, आपको बहुत प्रिय है न ! इसके सिवा, यह किसी और के द्वारा त्यागा हुआ भी नहीं है, किन्तु ऐसे व्यक्ति के द्वारा त्यागा हुआ है, जिस पर आप मुग्ध हैं। इसको

पीने में तो, आप अपना अपमान मानते हैं, और मुझे अपनाने में – मेरे साथ विवाह करने में-अपना अपमान नहीं मानते, इसका क्या कारण ? जिस प्रकार त्यागी हुई होने पर भी, मेरे रूप लावण्य में कोई खराबी नहीं आई है, उसी प्रकार, त्यागा हुआ होने पर भी, इस पदार्थ के रंग रूप में कोई बुराई नहीं आई है। फिर इसे पीने-वाले को तो कौए या कुत्ते के समान मानते हैं, और मुझे अपनाने में, यह विचार क्यों नहीं होता ?

राजमती की युक्तिपूर्ण बात सुनकर, रथनेमि बहुत लज्जित हुए। लज्जा के मारे, उनकी गर्दन झुक गई। रथनेमि को इस प्रकार लज्जित देख कर, राजमती ने विचार किया, कि रथनेमि, आखिर है तो कुलीन। कुलीन पुरुष, न्याय्य बात के सामने झुक भी जाता है, और उस अपने दुष्कृत्य पर लज्जा भी होती है।

राजमती, रथनेमि से फिर कहने लगी – यादव-कुमार, मेरे साथ विवाह करने का प्रस्ताव करने में, आपको कुछ तो विचार होना चाहिए था ! मैं, आपके बड़े भ्राता की परित्यक्ता-पत्नी हूँ, फिर भी आप, मोहवश मेरे साथ विवाह करने को तयार हो गये ! अपने बड़े भाई के सम्बन्ध का, आपको कुछ भी विचार नहीं हुआ ! बल्कि, आपके बड़े भाई मुझे त्याग कर चले गये, इसे आपने अपना सौभाग्य माना ! कुछ विचार तो करो ! आपके ये विचार, आपको उन्नति की ओर ले जावेंगे, या अवनति की ओर, यह तो सोचो !

रथनेमि लज्जा के मारे जैसे पृथ्वी में गड़े जा रहे थे। वे, सोच रहे थे, कि मैंने यह क्या किया! राजकुमारी राजमती का कथन, बिलकुल ठीक है। एक स्त्री के लिए, मैं, अपने भाई का सम्बन्ध भी भूल गया! धिक्कार है मुझे!

रथनेमि, राजमती से कहने लगे—राजकुमारी तुमने मुझे शायद यह उपदेश देने के लिए ही यहाँ बुलाया था! तुमने, मुझे, अपने उपदेश द्वारा पवित्र बना दिया। आप, मेरे अपराध, क्षमा करिये। मैं, अपने कृत्य पर बहुत लज्जित हूँ। अब मैं जाता हूँ; आप शीघ्र ही सुनेंगी, कि रथनेमि ने, अपने दुष्कृत्य का प्रायश्चित कर डाला।

यह कह कर रथनेमि, चुपचाप राजमती के महल से चल दिये। उनके हृदय में, लज्जा और ग्लानि थी। साथ ही, संसार से विरक्ति भी थी। वे सोचते थे कि भ्राता ने, जाने के समय जो उपदेश दिया था, वह मुझे उस समय अरुचिकर हुआ था, परन्तु अब उस उपदेश का रहस्य, मेरी समझ में पूरी तरह आ गया है। मैं समझ गया हूँ, कि यह संसार कैसा है, और संसार-व्यवहार में फंसे रहने पर मनुष्य; किस प्रकार के घृणित कार्य कर सकता है। इसलिए, अब मैं भी, संसार-सम्बन्ध तोड़ कर भ्राता का अनुगमन करूँगा।

पतिप्रेम

भारत की स्त्रियों का रहन-सहन, और उनकी संस्कृति; प्राचीन काल से ही, अन्य देशों के रहन-सहन और वहां की संस्कृति से भिन्न रही है। यह भिन्नता, आज भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। भारत की स्त्रियां, सदा उच्च और आध्यात्मिक आदर्श को सामने रखती आई हैं। सीता, मदनरेखा, दमयन्ती, द्रौपदी आदि के चरित्र को, भारत की स्त्रियां, बड़े आदर से देखती हैं। अपने लिए आदर्श मानती हैं, और उनके चरित्र, को अपनी जाति के लिए, गौरवपूर्ण समझती हैं। यद्यपि, पाश्चात्य देशों का अनुकरण करने के लिए, भारत की स्त्रियां भी विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद, तथा पुनर्विवाह आदि कानूनों की मांग करने लगी हैं; परन्तु यह मांग, कुछ ही अंग्रेजी-शिक्षा से प्रभावित स्त्रियों की है, भारत की अधिकांश स्त्रियां तो, इस प्रकार

के कानूनों की मांग की भावना को, हृदय में स्थान देना ही पाप समझती हैं; और जिन स्त्रियों की ओर से इस प्रकार की मांग हुई, उनमें से भी बहुतसी, अब यह समझने लगी हैं, कि इस प्रकार के कानूनों का परिणाम कैसा बुरा होता है, तथा भारतीय संस्कृति के मिटाने से कैसी हानि होगी। जिन देशों में, विवाह-विच्छेद कानून प्रचलित है, उन देशों के पति-पत्नी आज दाम्पत्य-जीवन की ओर से कैसे दुःखी हो रहे हैं; वहां दुराचार का कैसा ताण्डव होता है, यह कहा नहीं जा सकता। केवल इंग्लेण्ड में, और वह भी घरेलू झगड़ों के कारण, प्रतिवर्ष १५ हजार पत्नियां, पतियों को छोड़ देती हैं, और २५०० पति, पत्नी को निश्चित अला-उन्स न दे सकने के कारण, जेल जाते हैं।

भारत की सभ्यता को न समझनेवाले पाश्चात्य लोग, भारत की सभ्यता का उपहास चाहे करते हो, परन्तु उनका यह उपहास अपेक्षणीय नहीं हो सकता। तुलसीदासजी ने कहा है:—

द्वारे टाट न दै सकहिं, तुलसी जे नर नीच।
निंदरहिं वलि, हरिचन्द कहँ, कहु का करण दधीच ॥ १ ॥
भलो कहहिं जाने विना, की अथवा अपवाद।
तुलसी गांवर जानि जिय, करव न हर्ष विषाद ॥ २ ॥

अर्थात्:—अपने दरवाजे पर टाट भी नहीं दे सकते, ऐसे नीच लोग, राजा वलि तथा राजा हरिश्चन्द्र ऐसे दानी की भी

निन्दा करते हैं, और कर्ण, तथा दधीचि जैसे दानी तो उनकी दृष्टि में जैसे कुछ है ही नहीं। लेकिन यदि कोई जाने बिना किसी की निन्दा या प्रशंसा करता है, तो वह निरा गंवार है, यह समझ कर, उसकी निन्दा या प्रशंसा से न दुःख करना चाहिये, न प्रसन्नता।

यही बात, उन पाश्चात्य लोगों के लिए भी समझनी चाहिये, जिनके यहां व्यभिचार तो कोई अपराध या पाप ही नहीं है; फिर भी जो सीता, दमयन्ती, द्रौपदी आदि सतियों की निन्दा करते हैं। आज भारत के लोग, दाम्पत्य-जीवन की ओर से, इंगलेण्ड आदि देशों की तरह दुःखी नहीं हैं; इसका एक मात्र कारण, भारत की स्त्रियों के हृदय में भारत की प्राचीन स्त्रियों का उच्च आदर्श होना है। भारत में कोई स्त्री ऐसी शायद ही निकले, जो सीता दमयन्ती आदि सतियों का नाम न जानती हो; उनके चरित्र से यत्किंचित भी परिचित न हो, या उनके चरित्र को, आदर की दृष्टि से न देखती हो। सीता और दमयन्ती ऐसी स्त्रियाँ, भारत में ही हुई हैं, जो अनेक कष्ट पड़ने और पति द्वारा त्यागी जाने पर भी, पति-परायणा ही रहीं।

सीता, मेणरया, दमयन्ती आदि जितनी भी पतिव्रता और पतिपरायणा स्त्रियां प्राचीन काल में हुई हैं, राजमती उन सबसे बढ़कर है। सीता आदि और सतियों का, अपने पति द्वारा पाणि-

ग्रहण हो चुका था। वे, थोड़ा बहुत पति-सुख भोग चुकी थीं, और इस कारण यदि वे पतिभक्ता नहीं रहती हैं, तो उनके लिए लोकापवाद अवश्यम्भावी था। लेकिन राजमती के लिए, इनमें से कोई बात नहीं थी। राजमती का तो, भगवान् अरिष्टनेमि के साथ विवाह भी नहीं हुआ था, और भगवान् के लौट जाने के पश्चात् यदि वह किसी के साथ अपना विवाह करती तो कोई उसकी निन्दा भी नहीं कर सकता था। लौकिक-नीति के अनुसार. विवाह नहीं हुआ था, इसलिए राजमती, भगवान् अरिष्ट-नेमि की स्त्री नहीं बनी थी। फिर भी, राजमती ने भगवान् अरिष्टनेमि को अपना पति मानकर उत्कृष्ट पति-प्रेम का जो परिचय दिया उसके कारण राजमती, भारत की समस्त सती-स्त्रियों में, अग्रणी मानी जाती है। राजमती के सतीत्व का उच्च आदर्श, भारत के सिवा किसी देशवालों की कल्पना में भी आना कठिन है।

भगवान् अरिष्टनेमि, तोरणद्वार पर से लौटकर अपने महल को आये। भगवान् अरिष्टनेमि, विवाह किये बिना ही लौट आये, यह जानकर, इन्द्रादिक देव बहुत प्रसन्न हुए। भगवान् के महल में पहुँचते ही, लोकान्तिक देव उनकी सेवा में उपस्थित हुए। वे, भगवान् से प्रार्थना करने लगे, कि-हे प्रभो, अब आप धर्म तीर्थ प्रवर्ताने की कृपा करिये। संसार के लोग, विषयभोगों में ही

अपने जीवन की सफलता मानते हैं, और इसके लिए, अनेक दीन जीवों की हिंसा कर रहे हैं। आप, धर्मोपदेश की गगन-भेदी दुंदुभी बजाकर दुःखी जीवों की रक्षा करिये, तथा जो लोग, अपने सुख के लिए दूसरे जीवों को दुःख देकर घोर पाप कर्म में प्रवृत्त हो रहे हैं, उनको भी पाप करने से बचाइये।

लोकान्तिक देवों की यह प्रार्थना स्वीकार करके भगवान् अरिष्टनेमि, वार्षिकदान देने लगे। राजमती के यहां से लौटकर, रथनेमि भी, संसार से विरक्त की भांति रहते हुए, भगवान् की दीक्षा की प्रतीक्षा करने लगे। इसीप्रकार भगवान् के उपदेश से प्रभावित यादव भी, संसार से विरक्त रहने लगे। उग्रसेन ने, जब यह सुना कि भगवान् अरिष्टनेमि वार्षिकदान दे रहे हैं, और वार्षिक दान की समाप्ति पर दीक्षा लेंगे, तब उन्होंने, राजमती का विवाह किसी दूसरे के साथ करने का विचार किया। लेकिन इसके लिए जब तक राजमती की स्वीकृति न मिले, तब तक वे, राजमती का विवाह-सम्बन्ध, किसी दूसरे पुरुष के साथ नहीं कर सकते थे। इसलिए अपनी पत्नी सहित वे, राजमती को समझाने और किसी दूसरे पुरुष के साथ विवाह करने की स्वीकृति लेने के लिए, राजमती के पास आये। वे, राजमती से कहने लगे—पुत्री, तू अरिष्टनेमि के लिए इतना दुःख क्यों कर रही है! अभी, अरिष्टनेमि का और तेरा सम्बन्ध ही क्या हुआ था! विवाह तो हुआ ही नहीं था, जो

तुझे किसी प्रकार की चिन्ता करनी पड़े ! तू, अभी कुमारी है। तेरा विवाह दूसरी जगह करने में, नीति, धर्म, या समाज किसी का भी अपवाद नहीं है। यद्यपि हम, पहले तेरा विवाह अरिष्टनेमि के साथ ही करना चाहते थे, लेकिन हमने सुन रखा था, कि अरिष्ट-नेमि विवाह करना नहीं चाहते हैं, इससे हमने, इस विषय में कोई विचार नहीं किया था। फिर जब कृष्ण स्वयं ही आये, और उन्होंने मुझसे अरिष्टनेमि के लिए तेरी याचना की, तभी मैंने यह विवाह-सम्बन्ध स्वीकार किया था। इतना होने पर भी, अरिष्टनेमि चले गये, तो इससे अपनी क्या हानि हुई ? यह तो, उनके पिता भ्राता आदि का ही अपमान हुआ; जिन्होंने मुझसे तेरी याचना की थी और जो, बारात सजाकर आये थे। एक तरह से यह अच्छा ही हुआ, कि अरिष्टनेमि, तेरे साथ विवाह किये बिना ही लौट गये। यदि, विवाह हो जाता और फिर वे तुझे त्याग जाते, या दीक्षा ले लेते, तो जन्म भर दुःख रहता। अब तू, अरिष्टनेमि के लिए, किंचित् भी दुःख या चिन्ता मत कर। हम, तेरा विवाह, किसी दूसरे राजा या राजकुमार के साथ कर देंगे।

माता पिता की अन्तिम बात सुनकर, राजमती को बड़ा ही दुःख हुआ। वह, अपने माता पिता से कहने लगी, कि — आर्य-पुत्री का विवाह, एक ही बार होता है, दो बार नहीं होता। चाहे वह, पति द्वारा परित्याग करदी गई हो, या विधवा हो गई हो,

आर्य-पुत्री, स्वप्न में भी दूसरे पुरुष को नहीं वंछती। मेरा विवाह, एक बार हो चुका है, अतः अब मैं, अपना विवाह और कैसे कर सकती हूँ, और आपकी दूसरा विवाह करने की सम्मति भी, कैसे उचित हो सकती है? अब मेरा, किसी और पुरुष के साथ विवाह करना, दूसरा विवाह होगा। आप, मेरे सामने दूसरा विवाह करने का तो, नाम भी न लीजिये।

माता – हम, तेरे से दूसरा विवाह करने का कब कह रहे हैं? क्या हम आर्य-पद्धति से अपरिचित हैं!

राजमती – फिर आप क्या कह रही हैं? यदि अब मेरा किसी दूसरे पुरुष के साथ विवाह हुआ, तो क्या वह पुनर्विवाह न माना जावेगा?

माता – नहीं।

राजमती – क्यों?

माता – इसलिए कि अभी तेरा विवाह नहीं हुआ है।

राजमती – आप भ्रम में हैं; मेरा विवाह हो चुका है।

माता – किसके साथ?

राजमती – भगवान अरिष्टनेमि के साथ।

माता – समझ में नहीं आता, कि तू यह क्या कह रही है। कहीं तू कोई स्वप्न की बात तो नहीं कह रही है! भगवान अरिष्टनेमि, अपने घर तक भी नहीं आये, उन्होंने तेरे को और तूने

उनको, भली प्रकार देखा भी नहीं, हमने, कन्या-दान करके, तेरा हाथ भी उन्हें नहीं सौंपा, और तू कहती है कि विवाह हो गया !

राजमती – वे यहाँ तक नहीं आये, या आपने मेरा हाथ उनके हाथ में नहीं सौंपा, तो इससे क्या हुआ ? क्या विवाह के लिए ऐसा होना आवश्यक है ?

माता – आवश्यक क्यों नहीं है ?

राजमती – नहीं माता, आवश्यक नहीं है; यह तो एक बाह्य क्रिया है, जिसका होना न होना, इच्छा और परिस्थिति पर निर्भर है।

माता – फिर विवाह का अर्थ क्या होगा ?

राजमती – हृदय से किसी को पति रूप, या पत्नी रूप स्वीकार करना, यही विवाह है। विवाह के इस अर्थ से, संसार का कोई भी व्यक्ति, इनकार नहीं कर सकता, और इसी अर्थ को लेकर मैं कह रही हूँ, कि मेरा विवाह भगवान अरिष्टनेमि के साथ हो हो चुका। मैं, भगवान अरिष्टनेमि को हृदय से पति रूप स्वीकार कर चुकी हूँ; अतः अब मैं, किसी और पुरुष के साथ विवाह करके, आर्य-कन्या के कर्तव्य को दूषण नहीं लगा सकती।

माता – राजमती, तू विवाह का जो अर्थ लगा रही है, उससे हम इनकार नहीं करते, लेकिन हृदयगत भावों को संसार के सभी लोग नहीं जान सकते। इसलिए विवाह-सम्बन्धी स्थूल-क्रिया का

होना, आवश्यक है और जब तक यह न हो जावे, कोई पुरुष या स्त्री, विवाह-बन्धन से बद्ध नहीं मानी जा सकती।

राजमती — कोई दूसरा, मुझे विवाह-सम्बन्ध में बद्ध माने या न माने मैं तो अपने को ऐसी मानती हूँ! विवाह-सम्बन्धी स्थूल क्रिया देखने की आवश्यकता तो तब है, जब मैं अपने हृदय के भावों को छिपाऊँ। विवाह-सम्बन्धी स्थूल क्रिया भी, हृदय के आश्रित है। केवल विवाह ही नहीं, समस्त कार्य का मूल हृदय है। जिस बात को हृदय एक बार स्वीकार कर चुका है, केवल सांसारिक विषय-सुख के लिए उससे मुकरना, और विवाह-सम्बन्धी स्थूल क्रिया न होने का आश्रय लेना, कम से कम मैं अपने लिए उचित नहीं समझती।

माता — तू चाहे विवाह-क्रिया को न मान, लेकिन संसार तो मानता है न! यदि तू अभी किसी से यह कहे कि मैं अरिष्टनेमि की पत्नी हूँ, तो क्या संसार के लोग इस बात को मानेंगे? और तो और, क्या स्वयं अरिष्टनेमि ही यह स्वीकार करेंगे, कि राजमती मेरी पत्नी है?

राजमती — माता भगवान अरिष्टनेमि को मैंने पति माना है, इसलिए मैं तो अपने को विवाह-सम्बन्ध में बँधी हुई, और भगवान अरिष्टनेमि की पत्नी ही मानूँगी। मैं, यह नहीं कहती, कि भगवान अरिष्टनेमि ने भी मुझे पत्नी रूप स्वीकारा है, और इसलिए

वे विवाह-सम्बन्ध में बंधे हुए हैं। कदाचित् उन्होंने, हृदय से मुझे पत्नी माना भी हो, तब भी वे, विवाह-सम्बन्धी स्थूल-क्रिया न होने के कारण, अपनेआप को, विवाह-सम्बन्ध में न बंधा हुआ मान सकते हैं. लेकिन मैं, ऐसा क्यों मानूं! मेरा हृदय. जैसा पहले था, वैसा ही अब है। जैसा पहले भगवान अरिष्टनेमि को अपना स्वामी मानता था, वैसा ही अब मानता है। फिर मैं, स्थूल-क्रिया क्यों देखूं! रही संसार के लोगों की बात, कि वे, मुझे भगवान अरिष्ट-नेमि की पत्नी नहीं मान सकते, परन्तु संसार के लोग ऐसा मानें, या न मानें, मुझे इससे क्या है! यह मैं क्यों देखूं! मुझे यह देखने की आवश्यकता तो तब ही हो सकती है, जब मैं, भगवान अरिष्टनेमि को भी विवाह-सम्बन्ध में बंधा हुआ कहूँ, और संसार के लोगों से न्याय कराने जाऊं। मैं, भगवान अरिष्टनेमि को विवाह-सम्बन्ध में बंधा हुआ कहती ही नहीं हूँ, न मुझे इस विषय में संसार के किसी आदमी से किसी प्रकार का न्याय ही कराना है! फिर संसार के लोग चाहे कुछ भी कहें, मुझे उससे क्या मतलब है!

माता—देख राजमती, तू इतनी उतावली बनकर अपने लिए इस प्रकार का निर्णय मत कर। काम-विकार की प्रचण्ड तरंगों में, बड़े बड़े बह जाते हैं, तो तू तो अभी लड़की है। तू, आज तो इस प्रकार की बातें कहती है, परन्तु जब काम की ज्वाला शरीर को

दग्ध करने लगेगी, उस समय तेरी ये बातें न मालूम कहां चली जावेंगी, और तब, विवाह की स्थूल क्रिया का ही आश्रय लेना पड़ेगा। जिस स्थूल क्रिया को आज ठुकरा रही है, थोड़े दिन बाद उसे ही महत्व देना, कितना बुरा रहेगा; इसे जरा विचार। सारा संसार, विवाह की स्थूल-क्रिया को ही देखता है, और उस क्रिया के होने पर ही, विवाह हुआ मानता है। यदि तू उसे न मानेगी, तो फिर आगे क्या परिणाम होगा, इसे सोच ले।

राजमती—माता, आपका यह कथन ठीक है। काम के सामने, बड़ों बड़ों को नतमस्तक होना पड़ता है, यह भी मैं मानती हूँ। लेकिन यदि मेरे विवाह की स्थूल-क्रिया हो गई होती, और मैं, वह क्रिया होते ही विधवा हो जाती, तो क्या उस दशा में, काम मुझ पर प्रकोप न करता? यदि करता, तो उस काम-प्रकोप से बचने के लिए, आप मुझे क्या सम्मति देतीं? क्या उस दशा में, आप मुझे दूसरा विवाह करने का कहतीं। उस समय तो आप भी, मुझे धैर्य रखने का ही उपदेश देतीं। जो कार्य मैं, स्थूल-क्रिया से विवश होकर करती, वही कार्य, हृदय की प्रेरणा से क्यों न करूँ? संसार के लोग बुद्धिमान हैं, इसीसे वे, स्थूल-क्रिया न होने के कारण दूसरा विवाह करना अनुचित न मानते होंगे; परन्तु मेरे में, इस प्रकार का विचार करने की बुद्धि ही नहीं है। मैं तो, अपनी बुद्धि भी उन्हीं के समर्पण कर चुकी हूँ, जिन्हें मैंने, हृदय से पति माना

है। मेरे तो पति, भगवान अरिष्टनेमि ही हैं, फिर चाहे मैं, स्थूल-शरीर से उनसे न भी मिल सकूं; परन्तु मेरा हृदय तो, उनसे मिल ही गया है। विवाह-सम्बन्धी स्थूल-क्रिया न होने के कारण जो स्त्रियां, दूसरे पुरुष के साथ विवाह करती हैं, मैं उनकी निन्दा नहीं करती, परन्तु मैं स्वयं तो ऐसा कदापि न करूंगी।

राजमती का अन्तिम उत्तर सुनकर, उसके माता-पिता, राजमती का विवाह करने की ओर से, हताश हो गये। उन्होंने, राजमती से अधिक कुछ कहना सुनना अनावश्यक समझा, और राजमती से यह कह कर वहां से चले गये, कि तू इस विषय पर शान्ति से विचार कर। उन्होंने, राजमती की सखियों से भी कहा, कि तुम लोग, राजमती को सब बातों का ध्यान दिलाकर, समझाओ। इस प्रकार हठ पकड़ने का परिणाम, इसके लिये अच्छा न होगा।

राजमती के माता-पिता के चले जाने के पश्चात्, राजमती की सखियाँ, राजमती को समझाने लगीं। वे कहने लगीं — सखी, संसार में कोई भी मनुष्य, सुख को दुःख से बदलना नहीं चाहता, न कोई भी आदमी, अपने को, बलात् दुःख में डालता है। यह बात दूसरी है, कि विवश होकर दुःख सहना पड़े, परन्तु प्रयत्न, सुख-प्राप्ति का ही करते हैं। दुःख-प्राप्ति का प्रयत्न, कोई नहीं करता। फिर आप अपने लिए, दुःख क्यों मोल ले रही हैं? जब आपका

विवाह अभी हो सकता है, तब इस सुख-सुयोग को क्यों ठुकरा रही हैं ? महाराजा और महारानी ने आपसे जो कुछ कहा है, उस पर भली प्रकार विचार करो, और विवाह का सुअवसर न जाने दो। अन्यथा फिर, बहुत पश्चाताप करना पड़ेगा।

सखियों की बातें सुनकर, राजमती कहने लगी, सखियो, मुझ बुद्धिहीना की समझ में, तुम लोगों की बातें जरा भी नहीं आतीं। मैं, विचार करने बैठती हूं, तब भी मेरे विचार में, भगवान अरिष्टनेमि के सिवा, और किसी का ध्यान तक नहीं आता। सच्ची बात तो यह है, कि अब मेरे में या तो बुद्धि ही नहीं रही, या वह परतन्त्र बन गई है। बुद्धि पर भी, भगवान अरिष्टनेमि का आधिपत्य होगया है। मैं तो, बिलकुल वह विक्षिप्ता हूं, जिसे केवल भगवान अरिष्टनेमि की ही धुन है। हृदय कहता है, कि इस जन्म के लिए तो तू, भगवान अरिष्टनेमि को अपना पति बना चुकी है। अब तुझे दूसरा पति बनाने का, अधिकार नहीं है। हां, मस्तक दूसरा पति बनाने के विषय में विचार कर सकता था, परन्तु हृदयने, उसे भी अपने प्रभाव से प्रभावित कर लिया। ऐसी दशा में, तुम्हारी बात मेरी समझ में आवे तो कैसे ! सखियो, इस प्रकार की बातें करके, मुझ दुःखिनी के हृदय को और दुःखित मत करो। मेरे लिए, पति का विरह ही असह्य हो रहा है। मेरे लिए, एक एक दिन, वर्ष के समान

वीतता है, और एक एक रात, युग के समान बीतती है। मेरा हृदय, प्राणनाथ के वियोग से जल रहा है। उस जलते हुए हृदय पर, तुम, इस तरह की बातें करके नमक मत लगाओ। कहां तो मैं सोचती थी, कि विवाह होते ही मैं, पति के साथ आनन्द-पूर्वक सुख करूंगी; आगामी शरद्काल की स्वच्छ निर्मल-रात, पति के साथ सुख-पूर्वक विताऊँगी, और चकोरी की तरह, पति के चन्द्रमुख को देखकर आनन्दित होऊँगी, लेकिन कहां आज यह विरह-वेदना सहनी पड़ रही है! सखियों का कर्तव्य, ऐसे समय में मुझे विरह-वेदना से मुक्त करने का प्रयत्न करना, तथा धैर्य देना है, लेकिन आप लोग तो ऐसी बातें करती हो, कि जिससे मेरा दुःख वृद्धि पाता है। सखियो, इसमें तुम लोगों का किंचित् भी अपराध नहीं है। यह तो, मेरे पूर्व पापों का ही कारण है। यदि ऐसा न होता, तो प्राणनाथ मुझे विरह-ज्वाला में जलने के लिए छोड़ कर ही क्यों चले जाते, और आप भी, सखियों के योग्य कर्तव्य को क्यों भूलतीं! फिर भी मैं, तुम लोगों से यह अनुरोध करती हूँ, कि इस प्रकार की बातें करके मुझे कष्ट न पहुंचाओ। मैं, भगवान के सिवा, संसार के और समस्त पुरुषों को पिता-भ्राता के समान मानती हूं। मेरे पति तो, भगवान ही हैं। मैं, उन्हीं के नाम पर अपना जीवन विताऊँगी।

सखियो, तुम मुझे यह भय दिखाया करती हो, कि किसी

दूसरे के साथ विवाह न करने पर, जब काम का प्रकोप होगा तब दुःख पाओगी; लेकिन क्या काम मुझ अबला को ही कष्ट देगा? पति को कष्ट न देगा? पति ने, मुझे त्यागकर किसी दूसरी का पाणिग्रहण तो किया ही नहीं है, जो उसके कारण पति को काम-पीड़ा न हो, और मुझे ही हो। जिस स्थिति में पति हैं, उसी स्थिति में मैं हूं। जब वे, काम से होने वाले कष्ट सहेंगे, तो मैं क्यों न सहूं! मैं, उन कष्टों से भय खा कर अपने विचार से पतित क्यों हो जाऊं! स्त्री का कर्तव्य, पति का अनुगमन करना है; अतः जिस प्रकार पति कष्ट सहे, उसी प्रकार मुझे भी, कष्ट सहने चाहिएं; और यदि पति, काम पर विजय प्राप्त करें, तो मुझे भी वैसा ही करना चाहिए। इसलिए तुम लोग, मुझे इस प्रकार भय न दिखाओ, किन्तु पति का अनुसरण करने की ही शिक्षा दो।

राजमती की बातों से, सखियां चुप हो गईं। उन्होंने फिर भी, राजमती को समझाने और विवाह करना स्वीकार करने के लिए बहुत प्रयत्न किया, परन्तु उनका सब प्रयत्न निष्फल हुआ। राजमती, भगवान अरिष्टनेमि के प्रेम में ऐसी रंग गई थी, कि अब उस पर, किसी की बातों से कोई दूसरा रंग चढ़ता ही न था।

राजमती को, दिन-रात भगवान अरिष्टनेमि का ही ध्यान

रहता था। वह, कभी तो भगवान के सौंदर्य की प्रशंसा करती थी; कभी उनके बल पराक्रम को, और कभी, उनके द्वारा की गई पशु-पक्षियों की करुणा की। इसीप्रकार कभी वह, अपने पूर्व-कर्म की निन्दा करती थी, कभी इस जन्म के पापों की आलोचना करने लगती थी, और कभी अपने दुर्भाग्य को कोसने लगती थी। उसने, समस्त शृंगार-सामग्री त्याग दी। वह, राग-रंग से विमुख हो गई, और पति-विरह का कष्ट भोगती हुई, वैरागिन की तरह समय विताने लगी।

दीक्षा

भारत की सती महिलाएं, पति के जीवन में ही अपना जीवन मानती हैं। वे, पति से भिन्न अपना अस्तित्व ही नहीं समझती हैं; किन्तु पति के अस्तित्व में ही, अपना भी अस्तित्व मानती हैं। पति की सेवा, पति की आज्ञा का पालन, पति का अनुगमन, और पति के सत्कार्यों का अनुकरण करना वे, अपना साधारण कर्तव्य मानती हैं। वे, पति के सुख में अपने को सुखी, और पति के दुःख में, अपने को भी दुःखी मानती हैं। किसी भी समय, और किसी भी दशा में, वे पति से असहयोग नहीं करतीं, न पति से विमुख ही होती हैं। बल्कि, इस नियम का पालन वे उस समय विशेष रूप से करती हैं जब पति, सांसारिक सुख-विहीन हो गया हो या पति ने, सांसारिक सुखों का परित्याग कर दिया हो। इस प्रकार वे दाम्पत्य-जीवन को विषय-जन्य सुखों

के लिए ही नहीं समझतीं, किन्तु आत्मा को उन्नत बनाने के लिए भी, वे इस जीवन का आश्रय लेती हैं, और फिर इस जीवन से निकल कर, अपने आत्मा को उच्च दशा पर पहुँचा देती हैं।

राजमती को भगवान अरिष्टनेमि की ओर से न तो विषय-जन्य सुख मिले ही थे, न मिलने की आशा ही थी। फिर भी वह, भगवान अरिष्टनेमि पर अनुरक्त थी। किस लिए? केवल इसी-लिए, कि मैं, प्रति-प्रेम के द्वारा संसार के प्राणि-मात्र से प्रेम करना सीख सकूंगी। यदि वह विषय-जन्य सुखों की ही इच्छुका होती, तो भगवान अरिष्टनेमि के चले जाने के बाद, अवश्य ही किसी और पुरुष के साथ विवाह करना स्वीकार कर लेती, और यदि वह ऐसा करती, तो उसे कोई लौकिक मर्यादा से भ्रष्ट न कह सकता। लेकिन वह, विषय-जन्य सुखों के लिए ही भगवान अरिष्टनेमि से प्रेम नहीं करती थी, किन्तु उनकी सेवा द्वारा, उनके पदानुगमन द्वारा, अपने आत्मा को उन्नत बनाना चाहती थी। इसीसे, जब भी उसको विषय-जन्य सुखों का प्रलोभन दिया गया, और किसी दूसरे पुरुष के साथ, विवाह करने के लिए कहा गया, उसने ऐसे प्रस्ताव को ठुकरा ही दिया। वह सोचती थी, कि मेरा काम, पति का अनु-करण करना है। जब मेरे पति ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं, तब मेरा भी कर्तव्य ब्रह्मचर्य का पालन करना ही है। इस समय की लौकिक-प्रथा के अनुसार, पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकते हैं, फिर

भी भगवान ने, किसी दूसरी स्त्री के साथ विवाह नहीं किया, तो मैं, अपना विवाह किसी दूसरे पुरुष के साथ कैसे कर सकती हूँ ! मैं, स्वप्न में भी, अपना विवाह किसी और पुरुष के साथ नहीं करूँगी; किन्तु जिस प्रकार भगवान अरिष्टनेमि अपना जीवन व्यतीत करेंगे, उसी तरह मैं भी, अपना जीवन व्यतीत करूँगी। मैं, अपना कल्याण, पतिभक्ति द्वारा ही सरल रीति से कर सकती हूँ। रही पति के दूर होने की बात, लेकिन वियोग में प्रेम का जैसा आधिक्य होता है, वैसा आधिक्य समीप होने पर नहीं रहता। इसलिए पति-वियोग की इस विषम स्थिति को भी, मैं, अपने कल्याण की सहायिका ही मानूंगी।

राजमती, भगवान अरिष्टनेमि के प्रेम में मग्न होकर, इसी प्रकार के विचार किया करती थी। इसी दशा में, एक साल के लगभग समय बीत गया; फिर भी, उसके हृदय में, भगवान अरिष्टनेमि के प्रति, कोई दूसरे भाव पैदा न हुए। उसने, किन्हीं दूसरे भावों को अपने में उठने ही न दिया। जब कभी भी भगवान अरिष्टनेमि की ओर से उसे कुछ दूसरा विचार होता, तभी वह उन विचारों को तत्क्षण दबा देती, और सोचती, कि जब मैं पति के अस्तित्व में ही अपना अस्तित्व मानती हूँ, तब उन्होंने जो कुछ भी किया, वह अपने ही साथ किया है, मेरे साथ क्या किया ! मेरा कर्तव्य तो, उनकी प्रसन्नता में प्रसन्न रहना है।

उधर, भगवान अरिष्टनेमि का वार्षिकदान समाप्त हुआ। भगवान अरिष्टनेमि का दीक्षा महोत्सव मनाने के लिए इंद्रादिक देव उपस्थित हुए। श्रीकृष्ण ने, भगवान के दीक्षा महोत्सव की तयारी कराई। अन्ततः श्रावण शुक्ला ६ को, भगवान अरिष्टनेमि ने, समस्त संसार-संवन्ध त्याग कर, संयम स्वीकार लिया। भगवान अरिष्टनेमि के साथ ही, रथनेमि आदि एक सहस्र यादवकुमार भी, संयम में दीक्षित हुए।

'भगवान अरिष्टनेमि ने संसार से ममत्व तोड़ कर संयम ले लिया है' यह समाचार, राजमती ने भी सुना। इस समाचार के सुनने से, उसे यह विचार कर वहुत दुःख हुआ, कि मैं भगवान के दर्शन भी न कर पाई! मैं एक वार भी भगवान का दर्शन कर लेती, तव भी मुझे कुछ धैर्य रहता! मुझे अव तक यह आशा थी, कि भगवान, मुझे कभी तो दर्शन देने की कृपा करेंगे, परन्तु अव तो यह आशा भी टूट गई। अव मैं, किस आशा के सहारे जीवन व्यतीत करूँगी! मेरे इस दुःखमय जीवन से तो, मरण ही श्रेष्ठ है। धिक्कार है इस जीवन को, जिसमें पति-वियोग का दुःख सहना पड़े। मैंने, ऐसे कौनसे पाप किये थे जिनके फलस्वरूप मुझे इस तरह कष्ट भोगना पड़ रहा है।

राजमती, इसी प्रकार व्याकुल हो कर अपने पापों की आलोचना, और उनके विषय में पश्चाताप करने लगी। भगवान अरिष्ट-

नेमि के अनन्य प्रेम से, एवं पापों की निन्दा करने से, सहसा राज-मती को जातिस्मृति ज्ञान हो गया। जातिस्मृति ज्ञान होने पर, उसे मालूम हुआ, कि मेरा और भगवान अरिष्टनेमि का, पूर्व में आठ भव तक प्रेम सम्बन्ध रहा है, और इसी सम्बन्ध का यह नववां भव है। इस नववें भव के प्रेम को, भगवान, सांसारिक सुखों के नितान्त त्याग में लगाना चाहते थे, इसीलिए भगवान ने संयम स्वीकार किया है। संयम द्वारा भगवान, जो अक्षय सुख प्राप्त करना चाहते हैं, मैं उससे वंचित न रहूँ; किन्तु मैं भी वह सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करूँ; मुझे यह सूचना देने के लिए ही, भगवान यहां तक पधारे थे। अब, मेरा भी कर्तव्य है, कि मैं एक सच्ची पत्नी की तरह उसी श्रेष्ठ मार्ग को ग्रहण करूं, जो मार्ग पति ने ग्रहण किया है। अब मैं भी, संसार के झंझटों से अपने को अलग करके, संयम लूंगी, और फिर, उस स्थान पर पति से भेंट करूंगी, जहां वियोग का दुःख हो ही नहीं सकता।

इस प्रकार विचार कर राजमती, संयम लेने के लिए तैयार हुई। उसके मुख पर, प्रसन्नता दिखाई देने लगी। उसकी आंखों की सजलता भी, अपूर्व तेज में परिणत हो गई, और उसके हृदय का सब खेद मिट गया।

राजमती की माता ने, जब भगवान की दीक्षा का समाचार सुना, तब वह राजमती को फिर समझाने आई; लेकिन उसने

देखा, कि राजमती प्रसन्न है। उसे, किंचित् भी खेद नहीं है, और वह स्वयं भी दीक्षा लेने की तैयारी में लगी हुई है। राजमती को संयम लेने के लिए तत्पर देख, राजमती की माता, उससे कहने लगी—प्यारी पुत्री, क्या तू संयम लेने की तयारी कर रही है? क्या संयम कोई खिलौना है, कि जिसे सब लेलें? संयम का पालन, कोई सहज काम है? संयम का पालन करना, लोहे के चने चबाने के समान बहुत कठिन कार्य है। बड़े-बड़े योद्धा भी, संयम का पालन करने में, समर्थ नहीं होते, तो तुझसी सुकुमारी, संयम का पालन किस प्रकार कर सकती है? तू, महलों में पली है, कोमल शय्या पर सोई है, अच्छे अच्छे पदार्थों का भोजन करती रही है, और अनेक दासियों द्वारा सेवित रही है। ऐसी दशा में, संयम लेकर, नंगे पांव चलने, कठोर बिस्तर पर सोने, और भिक्षा मांग कर रूखा सूखा भोजन करने के कष्ट कैसे सह सकती है? क्या तू भिक्षा मांग सकेगी? उस समय, मानापमान का विचार तुझे न होगा? भिक्षा मांगने पर, न मिलने से तुझे खेद न होगा? इन सब बातों पर विचार कर, और संयम को सरल मत समझ। संयम में, बड़े बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं; जिनको सहन करने योग्य तेरा यह सुकुमार शरीर नहीं है। और कष्ट तो दूर रहे, तू, अपने मस्तक का एक केश तो उखाड़ कर देख, कि कैसा कष्ट होता है! एक केश

उखाड़ने में भी. जब इतनी वेदना होती है, तब मस्तक के समस्त केश उखाड़ने में कैसी वेदना होती होगी ! इसके सिवा, अभी कुछ देर पहले तो तुझे, कुमार अरिष्टनेमि के साथ विवाह न होने का, या वे बिना विवाह किये ही चले गये इसका दुःख था और अब क्षण भर बाद ही, तेरे में, संसार से विरक्ति कैसे हो गई ? संयम लेने की धुन, कैसे समाई ? सांसारिक भोग-विलास भोगते हुए हम लोगों की इतनी आयु बीत गई, फिर भी हमें संसार से वैराग्य नहीं हुआ, तो तुझे कैसे होगया ? इस प्रकार के क्षणिक आवेश में कोई कार्य कर डालना, अपने आप के लिए आपत्ति मोल लेना है। इसलिए तू, संयम लेने के विचार को तो बिल्कुल ही त्याग दे। हम, तेरे हितैषी हैं, शत्रु नहीं हैं। यदि तू हम पर विश्वास करती है, तो हम कहें वैसा ही कर; हमारी इच्छा के विरुद्ध कार्य्य करने का विचार भी न कर।

माता के कथन के उत्तर में, राजमती कहने लगी – माताजी, मैं आप से ही पूछती हूँ, कि पत्नी के लिए पति की आज्ञा मानना आवश्यक है, या मां बाप की आज्ञा ? इसके उत्तर में आप यही कह सकती हैं, कि पत्नी के लिए, प्रधानतः पति की आज्ञा ही मान्य है। जब इस बात को आप भी मानती हैं, तब आपकी आज्ञा न मानकर मेरा संयम लेना, अनुचित तो नहीं हो सकता ! पहले तो, उनकी आज्ञा ही ऐसी है, और कदाचित् आज्ञा न भी हो, तब भी,

किसी उचित कार्य में, पति का अनुगमन करने के लिए, पति की आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक नहीं है। माताजी, भगवान मुझे कुछ शिक्षा देने के लिए ही यहाँ तक आये थे। उन्होंने, मुझे दूर से ही दर्शन देकर यह शिक्षा दी, कि तू मेरा अनुगमन करने के लिए ही मेरे साथ विवाह करना चाहती है, तो मेरा अनुगमन कर, और जिस तरह मैं संसार से अपना सम्बन्ध विच्छेद करता हूँ, उसी तरह तू भी, संसार-सम्बन्ध से अलग हो जा! मैं, संसार-सम्बन्ध से जकड़े रहने में, आत्मा का कल्याण नहीं देखता; अतः तू भी, संसार-सम्बन्ध में मत रह।

माताजी, मुझे यह सीख देने के लिए ही, भगवान ने यहाँ पधारने का कष्ट किया था। भगवान के पधारने का उद्देश्य, मुझे सीख देने के साथ ही चाहे कुछ और भी रहा हो, परन्तु मैं तो यही मानूंगी, कि भगवान, मेरे पर कृपा करने के लिए ही पधारे थे। मैं, इस बात को अब तक नहीं समझ सकी थी, और इस कारण भगवान से, सांसारिक प्रेम की ही आशा रखती थी; लेकिन भगवान ने दीक्षा लेली, यह समाचार सुनकर मैं विचारने लगी, कि क्या भगवान ने मेरे साथ अन्याय किया है? विचारने पर मुझे मालूम हुआ, कि भगवान ने मेरे साथ अन्याय नहीं किया है, अपितु मुझ पर दया की है। अज्ञान-पूर्ण इच्छा की पूर्ति के लिए, मेरे साथ अपवित्र-प्रेम-सम्बन्ध न जोड़कर, भगवान ने, मुझे संसार-

में पुनः पुनः जन्म-मरण करने से बचा लिया है। वे, मुझे यह शिक्षा देने के लिए ही पधारे थे, कि राजमती! क्या तू इस भव को भी अपवित्र-प्रेम-सम्बन्ध में ही बिताना चाहती है? आ, अब वह पवित्र-प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर, जिसमें न तो वियोग का दुःख है, और न जन्म जरा मृत्यु आदि का ही दुःख। यह शिक्षा देकर भगवान, वैसा ही प्रेम सम्बन्ध-स्थापित करने की तयारी करने के लिए वापस पधार गये थे; परन्तु मेरे अज्ञान ने, अब तक भगवान की इस शिक्षा को मेरी समझ में न आने दिया और इसी कारण मैं, इतने दिन सांसारिक प्रेम सम्बन्ध के लिए दुःख पाती रही। अब मेरे हृदय का अज्ञान दूर हुआ है, इससे मैं, भगवान के यहाँ पधारने और फिर बिना विवाह किये ही लौट जाने का रहस्य, समझ सकी हूँ। इसलिए अब, मैं भी भगवान की ही तरह सब जीवों से वह पवित्र प्रेम-सम्बन्ध जोडूंगी, जिसमें संकुचितता को स्थान ही नहीं है।

माता, संयम में कष्ट होते हैं या नहीं, इस विवाद में मैं नहीं पड़ना चाहती। मैं तो यह जानती हूँ, कि भगवान अरिष्टनेमि भी तो मेरी ही तरह सुख में पले हैं! और वे भी तो राजकुमार हैं! जब वे संयम का पालन कर सकते हैं, तब मुझे क्यों कठिनाई होगी? मैं भी संयम का पालन कर सकती हूँ! इसलिए मैं, संयम लेकर पति की अनुगामिनी बनूंगी, और जिस सुख को वे प्राप्त करना

चाहते हैं, उसे मैं भी प्राप्त करूंगी। मैं, आप से भी यही प्रार्थना करती हूँ, कि आप मेरे इस विचार को प्रोत्साहन दें, मेरे विचार के विरुद्ध कोई परिस्थिति खड़ी न करें। मैं, संसार-व्यवहार में अब एक क्षण भी कठिनाई से बिता रही हूँ।

राजमती की माता ने समझ लिया, कि पुत्री से अब अधिक कुछ कहना, इसके हृदय को दुःखाना है। उन्होंने, उग्रसेन से सब वृत्तान्त कह सुनाया। अन्त में, दोनों निश्चय पर पहुँचे, कि जिस श्रेष्ठ मार्ग को राजमती अपना रही है, उसमें बाधा न डालनी चाहिए और वह जिसमें सुख माने, वैसा कार्य उसे करने देना चाहिए।

राजमती ने, अपने उपदेश से अपनी सखी-सहेलियां आदि बहुत-सी स्त्रियों में भी, वैराग्य-भावना भरदी। उसका साथ देने के लिए, सात सौ स्त्रियां तयार हो गईं। राजमती, इन सब के साथ, दीक्षा लेने की तयारी करने लगी।

अपनी सात सौ सखियों सहित राजमती, संयम लेने के लिए तयार हुई। उग्रसेन ने, राजमती का निष्क्रमण-महोत्सव मनाया जिसमें श्रीकृष्ण आदि यादवों ने भी भाग लिया। राजमती ने, अपने सुन्दर घुंघराले और रेशम की तरह के कोमल केशों का अपने हाथों से लुंचन करके, संयम स्वीकार किया। राजमती की सात सौ सखियां, राजमती की शिष्या बनीं। श्रीकृष्ण, उग्रसेन आदि, राजमती के विषय में शुभ-कामना करते हुए, कहने लगे कि—

हे इन्द्रियों का दमन करनेवाली सती, तू इस घोर संसार-सागर से शीघ्र पार होना। इस प्रकार राजमती से कहकर, और उसे वन्दना नमस्कार करके, उग्रसेन, श्रीकृष्ण आदि सब लोग, अपने अपने घर गये। अपनी शिष्याओं सहित सती राजमती, तप-संयम की आराधना, एवं जन-कल्याण करती हुई विचरने लगी। थोड़ेही समय में वह, अनेक सूत्रों की जानकार-बहुश्रुता-भी हो गई।

१२

फिर पतन की ओर

शास्त्र में, ब्रह्मचारी के लिए स्त्री-दर्शन का निषेध है। इतना ही नहीं, किन्तु स्त्री से संभाषण करना, स्त्री का स्मरण करना, स्त्रियों की कथा करना, तथा स्त्री का चित्र देखना भी मना है। यही बात, ब्रह्मचारिणियों के लिए, पुरुषों के विषय में भी समझनी चाहिए। शास्त्र का यह निषेध, निष्कारण नहीं हैं, किन्तु सकारण है। संसार में, ऐसे बहुत कम स्त्री-पुरुष निकलेंगे, जो उक्त कारणों के विद्यमान रहते हुए भी, ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रख सकें। शास्त्रकारों ने, ब्रह्मचर्य की रक्षा की दृष्टि से ही, इन बातों का निषेध किया है।

ब्रह्मचारी को, एकान्त में स्त्री के मिल जाने (इसी तरह ब्रह्मचारिणी के लिए एकान्त में पुरुष के मिल जाने) से, मन का विकृत होना सम्भव है। ब्रह्मचारी तो दूर की बात है, किसी भी पुरुष या स्त्री को, एकान्त में स्त्री या पुरुष का मिलना बुरा है।

एकान्त में स्त्री या पुरुष के मिलने से, जिस पुरुष या स्त्री का मन स्थिर रह सके, वह धन्यवाद का पात्र है। क्योंकि, ऐसे समय में मन का स्थिर रहना बहुत ही कठिन है, और मन के अस्थिर होते ही, मन की चञ्चलता के कारण-पतन अवश्यंभावी है। यह बात दूसरी है, कि कोई शरीर से पतित होने से बचजावे, लेकिन उस समय, मानसिक पतन तो हो ही जाता है। संसार-व्यवहार को घृणा-पूर्वक त्यागने वाले बड़े बड़े त्यागी भी, ऐसे समय में विचलित हो उठते हैं, तो दूसरे की तो बात ही क्या है! राजमती के उपदेश से रथनेमि ने, संसार को बहुत घृणा की दृष्टि से त्यागा था, परन्तु वही राजमती जब उन्हें एकान्त में मिलगई, तब रथ-नेमि का मन विचलित हो ही उठा, और यदि उस समय राजमती का मर्मवेधी उपदेश उन्हें न मिलता, रथनेमि की तरह राजमती भी विचलित हो गई होती, तो पतन हो ही चुका था। लेकिन राजमती पूर्ण तथा दृढ़ ब्रह्मचारिणी थी, इस कारण ऐसा विकट अवसर होने पर भी, वह स्वयं भी बच गई, तथा रथनेमि का भी अधिक पतित न होने देकर, सदा के लिए दृढ़ बना दिया। इस प्रकार की घटनाओं को दृष्टि में रखकर ही, यह उपदेश दिया गया है, कि चाहे कोई कैसा भी त्यागी पुरुष हो, उसे यह सोच कर, कि—मैं इन्द्रिय-दमन करने वाला हूँ, किसी स्त्री से—फिर चाहे वह वृद्धा, कुरूपा या माता ही क्यों न हो—एकान्त में बातचीत न

करनी चाहिए; न मिलना ही चाहिए। क्योंकि मन और इन्द्रियों का समूह किस समय बिगड़ खड़ा होगा, यह नहीं कहा जा सकता।

राजमती के हृदय में, भगवान अरिष्टनेमि का दर्शन करने की पहले से ही प्रबल उत्कण्ठा थी। दीक्षा लेने के पश्चात्, उसके हृदय में भगवान का दर्शन करने की भावना, उग्ररूप से बढ़ गई। इस उच्च भावना को पूरा करना श्रेयस्कर समझकर, अपनी शिष्याओं सहित सती राजमती, भगवान का दर्शन करने के लिए चली। उस समय भगवान अरिष्टनेमि, गिरनार पर्वत पर विराजते थे। सती राजमती भी, भ्रमण करती हुई और जन समूह का कल्याग करती हुई, गिरनार पर्वत के समीप आ पहुँची। 'अब मुझे' अपने चिर-प्रेमी उन भगवान अरिष्टनेमि का दर्शन होगा, जो मुझे, दूर से ही दर्शन देकर लौट आये थे, जिनका दर्शन करने की मेरे हृदय में बहुत दिनों से उत्कण्ठा है, और जो जन्म-मरण का चक्कर काटने के लिए सांसारिक सुखों को त्याग कर, इस पर्वत पर विराजते हैं। इस प्रकार के विचार करती हुई सती राजमती, अपनी सखियों सहित, गिरनार पर्वत पर चढ़ने लगी। राजमती और उसकी शिष्याएँ पर्वत पर चढ़ रही थीं, इतने ही में आंधी-पानी का भयंकर तूफान आगया। उस समय, ऐसी प्रचण्ड आंधी चली, कि एक दम से अँधेरा-सा हो गया। अँधेरे और धूलि के कारण, अपना हाथ

दिखना भी कठिन था। शिष्याओं सहित राजमती, उस प्रचण्ड आंधी के वेग में घिर गई। परिणामतः सब का साथ छूट गया। कोई कहीं रह गई, और कोई कहीं निकल गई।

आंधी के प्रकोप के साथ ही, पानी भी बरसने लगा। राजमती और उसकी शिष्याएँ तितिर-बितिर तो पहले ही हो गई थीं, वर्षा के कारण राजमती के कपड़े भी भीग गये। उस समय, राजमती के साथ उसकी कोई शिष्या न थी, वह अकेली ही रह गई थी। कुछ समय बाद, आंधी का प्रकोप भी मिटा और वर्षा भी बन्द हुई। आंधी वर्षा बन्द होने पर, राजमती ने सामने एक पार्वतीय गुफा देखी। उसने विचारा, कि इस गुफा में चलकर अपने गीले वस्त्र सुखा लेना अच्छा है। इस प्रकार विचार कर राजमती, उस गुफा में गई। उसने देखा, कि गुफा में कोई आदमी नहीं है। गुफा को निर्जन समझकर, राजमती ने, अपने शरीर के वस्त्र उतार कर, उन्हें यत्र तत्र फैला दिये।

जिस गुफा में राजमती ने नग्न होकर अपने वस्त्र सूखने के लिये फैलाये थे, उसी गुफा में, रथनेमि धर्म-चिन्तवन कर रहे थे। रथनेमि, गुफा में भीतर की ओर अँधेरे में थे, इस कारण वे, राजमती को नहीं देख पड़े। राजमती, गुफा के उस भाग में थी, जहां प्रकाश था और रथनेमि, गुफा के उस भाग में थे, जहां अँधेरा था। इस कारण, राजमती तो रथनेमि को न देख सकी,

लेकिन रथनेमि ने, राजमती को देख लिया। रथनेमि, बैठे तो थे धर्म चिन्ता करने के लिए, परन्तु नग्न शरीरा राजमती को देख कर, उनका धैर्य छूट गया। उनमें, काम-वासना जागृत हो उठी। उन्होंने, राजमती को पहचान लिया। उनके सामने, पूर्व की समस्त घटनाएँ, चित्र की तरह आ खड़ी हुईं। एकान्त में, राजमती ऐसी सुन्दरी और वह भी नग्न शरीरा को देखकर जो धैर्य रख सके, जिसमें काम विकार जागृत न हो, ऐसे महापुरुष, बहुत थोड़े निकलेंगे। रथनेमि जैसे व्यक्ति का अधीर हो उठना तो, स्वाभाविक ही था। रथनेमि, स्त्री-भोग की इच्छा से पराजित हो गये। इस इच्छा से पराजित होने के कारण, वे, ज्ञान ध्यान सब भूल गये। उनमें, राजमती के साथ भोग भोगने की भावना प्रबल हो गई, संयम की अपेक्षा न रही। वे सोचने लगे, कि इस तरह की सुन्दरी राजमती के साथ भोग भोगने से ही, जीवन सार्थक हो सकता है। यद्यपि मैं इस पर पहले से ही मुग्ध था, परन्तु उस समय इसने, मेरे को स्वीकार नहीं किया था; किन्तु मुझे ऐसा उपदेश दिया था, कि जिससे मैंने संसार व्यवहार से विरक्त हो, भ्राता के साथ संयम ले लिया। लेकिन आज मैं, इस अनुपम सुन्दरी को देखकर यह समझता हूँ, कि ऐसी सुन्दरी साथ भोगभोगने में ही आनन्द है, संयम में आनन्द नहीं है। यह स्थान, एकान्त है। यहां, इसके और मेरे सिवा तीसरा कोई नहीं

है; तथा यह नग्न भी है। इसके सिवा, जब इसने मेरे साथ विवाह करना अस्वीकार किया था, तब इसमें भ्राता का तीव्र प्रेम था, जो समय के साथ ही साथ कम हो गया होगा। इसलिए अब, यह मुझे अवश्य ही स्वीकार कर लेगी। विशेषतः आज वर्षा हुई है। यह, वर्षा से भीग भी गई है। वर्षा के समय, स्त्रियों में पुरुष की चाह अधिक रहती है; इसलिए भी, आज मेरा मनोरथ अवश्य ही पूर्ण होगा।

इस प्रकार विचार कर रथनेमि, विकार-पूर्ण चेष्टा करने लगे। रथनेमि की चेष्टाओं से, राजमती का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ। पहले तो उसने सोचा, कि भीतर की ओर कोई पशु पक्षी होगा; लेकिन जब उसने दृष्टि गड़ाकर देखा, तब उसे मालूम हुआ, कि यहाँ तो कोई पुरुष है। गुफा में कोई पुरुष है, यह जानकर राजमती, लज्जा और भय से कांप उठी। वह सोचने लगी, कि मैंने कैसा अनर्थ किया, जो इस गुफा को निर्जन समझ कर नग्न हो गई! मुझे, अकेली और नग्न देखकर, कहीं यह पुरुष मेरा शील भंग करने के लिए बलात्कार न करे! यदि इसने ऐसा किया, तो मैं क्या करूंगी! मैं अकेली तो हूँ ही, साथ ही नग्न भी हूँ। अब, वस्त्र पहने में भी विलम्ब होगा। इस समय मुझे क्या करना चाहिए!

इस प्रकार राजमती को, क्षण भर के लिए बड़ा असमंजस

रहा, परन्तु वह असमंजस, अधिक देर तक न ठहर पाया। उसने, उसी क्षण साहस धारण करके सोचा, कि मैं वीर-बाला हूं। मुझे, इसप्रकार भयभीत होना ठीक नहीं। भयभीत होने पर तो, मैं कुछ भी न कर सकूंगी। इस समम मुझे, धैर्य तथा साहस से काम लेना चाहिए। संसार में, किसी भी पुरुष की यह शक्ति नहीं हो सकती, कि वह बलात किसी का शील छीने। फिर मुझ वीरबाला का शील भंग तो, कोई कर ही कैसे सकता है! मैं, जब तक हो सकेगा शरीर में रहती हुई शील की रक्षा करूंगी, और जब देखूंगी, कि शरीर में रहती हुई शील-रक्षा नहीं कर सकती, तब इस शरीर को भी त्याग दूंगी; परन्तु शरीर रहते, शील तो नष्ट न होने दूंगी। इस समय विलम्ब होगा, इसलिए अभी वस्त्र पहनने में पड़ना ठीक नहीं। सम्भव है, कि वह पुरुष मुझ पर शीघ्र ही आक्रमण करदे। इसलिए पहले मुझे, शील नष्ट न हो, ऐसा प्रबन्ध कर लेना चाहिए।

इस प्रकार विचार कर राजमती, मर्कटासन लगाकर बैठ गई। उसने, अपने दोनों पांव से अपना गुप्ताङ्ग ढांक लिया, और पांवों को हाथों से जकड़ लिया। इस प्रकार वह, शील-रक्षा की चिन्ता से बहुत कुछ मुक्त होगई।

राजमती, रथनेमि को न तो पूरी तरह देख ही सकी थी, न पहचान ही सकी थी; लेकिन राजमती को, रथनेमि ने पहचान-

लिया था। राजमती के चेहरे का उतार चढ़ाव और उसे मर्कटासन लगाकर बैठती देख, रथनेमि ने समझ लिया, कि राजमती भयभीत होगई है। वे अपने स्थान से उठकर, राजमती के पास आये और राजमती से कहने लगे, हे राजमती, तुम भय मत करो, मैं और कोई नहीं हूँ; तुम्हारा पूर्व-प्रेमी रथनेमि ही हूं। मेरे द्वारा तुम्हें, किसी प्रकार का कष्ट न होगा, अपितु सुख ही प्राप्त होगा। हे सुन्दरी, हे मधुर भाषिणी, तुम भय तथा लज्जा त्याग दो, और आओ, हम तुम मनुष्योचित भोग भोगें। यह स्थान एकान्त है, यहां कोई देखनेवाला नहीं है। यह मनुष्य-भव बहुत दुर्लभ है। इस भव को पाकर भी, मनुष्य-जन्म सम्बन्धी सुखों से वंचित रहना, ठीक नहीं है।

रथनेमि की बात सुन कर, तथा उसे पहचान कर, राजमती को इस विचार से कुछ धैर्य हुआ, कि कुछ भी हो, रथनेमि है कुलीन। यह, बलात् मेरा शील नष्ट करने का दुःसाहस तो नहीं ही करेगा। यद्यपि, इस समय यह काम-विकार से अस्थिर चित्त हो रहा है, फिर भी, इसे सुमार्ग पर लाना कठिन नहीं है। पहले भी, जब इसने मेरे साथ विवाह करना चाहा था, इसे समझाने में विलम्ब न लगा था, और उस समय मेरे उपदेश का इस पर ऐसा प्रभाव पड़ा था, कि यह, संसार-सम्बन्ध त्याग कर मुनि हो गया। अब भी इसे समझाने पर, यह अपने कर्तव्य पर स्थिर हो सकेगा।

राजमती का भय, कुछ कम हुआ। वह, मर्कटासन त्याग कर, अपने वस्त्र पहनने लगी। राजमती अपने वस्त्र पहन रही थी और रथनेमि वहीं खड़ा खड़ा कह रहा था—हे सुआननी, मेरे हृदय में पहले तुम्हें पत्नी बनाने की जो इच्छा हुई थी, वह तुम्हारे उपदेश से, उपशान्त तो अवश्य हो गई थी और उस तुम्हारे उपदेश से प्रभावित होकर ही, मैंने, संयम भी स्वीकार किया, परन्तु उस इच्छा का विनाश नहीं हुआ था। आज तुम्हें देखकर मेरी वह उपशान्त इच्छा, फिर जाग उठी। मेरे हृदय में, तुम्हारे प्रेम का जो अंकुर उत्पन्न हुआ था, और तुम्हारे उपदेश के कारण जो मुर्झा गया था, वह आज फिर लहलहा उठा। वास्तव में, तुम हो ही ऐसी सुन्दरी। तुम ऐसी सुन्दरी के प्रति, हृदय में एक बार जो प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उसका नाश न होना, स्वाभाविक है। इसलिए तुम, मेरी प्रेम-याचना पूरी करो; मुझे, अपने शरीर के स्पर्श से सुखी बनाओ और स्वयं भी, आनन्द अनुभव करो।

रथनेमि, इसी प्रकार की बातें करता रहा, परन्तु राजमती ने उस समय तक उसकी बात का कुछ भी उत्तर न दिया जब तक कि वह कपड़े न पहन चुकी। कपड़े पहन चुकने पर राजमती, रथनेमि से कहने लगी—अरे रथनेमि, तुम तो साधु हुए हो न? साधु होकर भी, ज्ञान ध्यान की बातें छोड़, ऐसी बातें करते हो?

रथनेमि – हां, मैं साधु अवश्य हूं, परन्तु इस समय तुम्हारे सिवा मुझे कुछ नहीं सुहाता। इस समय मैं, ज्ञान ध्यान विस्मृत हो चुका हूं।

राजमती – तुमने, संयम स्वीकार करने के समय क्या प्रतिज्ञा की थी, यह कुछ याद है?

रथनेमि – सब याद है।

राजमती – क्या इन बातों से, तुम्हारी प्रेम-प्रतिज्ञा को दूषण नहीं लगता?

रथनेमि – दूषण लगे तो लगे, मैं उसका प्रायश्चित कर डालूंगा और अभी मैं जो कुछ भी करूंगा, उसका तो प्रायश्चित भी न करना होगा।

राजमती – क्यों?

रथनेमि – इसलिए कि यह स्थान एकान्त है; हम तुम जो कुछ करेंगे, उसे तीसरा कोई न जान सकेगा।

राजमती – तो जिसपाप को कोई और न जाने, उसका प्रतिफल नहीं भोगना पड़ता! क्यों? क्या तुम्हारे कृत्यों के लिए, तुम्हारा आत्मा साक्षी नहीं है? क्या इस प्रकार छिपकर पाप करने की इच्छा रखनेवाला, साधुपने में दीक्षित होकर, साधुपने को दूषित नहीं करता? इस प्रकार छिपकर पाप करने की भावना रखना तो, महान् अपराध है! इसके सिवा, कदाचित् तुम तो

इस प्रकार छिपकर पाप करने को तयार भी हो जाओ, लेकिन मैं ऐसा करके अपनी साधुता को कलंकित क्यों करूं ?

रथनेमि – अच्छा तो आओ, अपन दोनों संयम त्याग-कर संसार के भोग भोगें और फिर जब भुक्तभोगी हो जावेंगे, तब संयम का आचरण करेंगे।

राजमती – ठीक है, परन्तु फिर उस समय मैंने तुम्हारा लाया हुआ जो पेय पदार्थ तुम्हें दिया था, वह तुमने क्यों नहीं पिया था ?

रथनेमि – इसलिए कि वह तुम्हारे द्वारा उगला हुआ था।

राजमती – लेकिन यदि वह तुम्हारे ही द्वारा उगला हुआ होता, तब तो तुम उसे पी जाते न ?

रथनेमि – उगले हुए को मैं फिर कैसे पी सकता था ?

राजमती – उसी तरह, जिस तरह कि इस समय अपने त्यागे हुए कार्य का आचरण करने को तयार हुए हो ! तुम, अपने द्वारा त्यागे हुए काम-भोग तो भोगना चाहते हो, फिर अपने द्वारा त्यागे हुए पेय पदार्थ को पीने में. कौनसी बुराई थी ? अरे रथ-नेमि, संयम लेकर और सांसारिक भोगों को त्याग कर, फिर इस समय उन्हें भोगने के लिए तयार हुए हो ? तुम्हें लज्जा भी नहीं आती ? तुम, यशस्वी महाराज अंधकवृष्णि के पौत्र, महाराजा समुद्रविजय के पुत्र और यदुकुल कमल दिवाकर भगवान अरिष्टनेमि

के छोटे भाई होकर, कुत्तों की तरह, अपने द्वारा त्यागे गये को अपनाना चाहते हो? तुम, अपने कुल को क्यों दूषित बना रहे हो? तुम, कुलवान मनुष्य होकर भी, उस मर्यादा का उल्लंघन करना चाहते हो, जिस मर्यादा के वश होकर साँप भी अपने प्राण खो देता है। मंत्रवादी की प्रेरणा पर, प्राणों के लोभ में पड़कर गंधन जाति का साँप तो अपने द्वारा उगले गये विष को चूस लेता है, परन्तु अगंधन जाति का साँप, अपने उगले हुए विष को कदापि नहीं चूसता; हां अग्नि में गिरकर प्राण अवश्य दे देता है। जब एक साँप भी, अपने उगले हुए को चूसने की अपेक्षा प्राण-त्याग को अच्छा समझता है, तो तुम तो मनुष्य हो! तुम्हें, अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करने के लिए क्या करना चाहिए, इसे सोचो! कदाचित् तुम, अपने उगले हुए को चूसने के लिए तैयार भी हो जाओ, त्यागे हुए विषय-भोग फिर भोगने भी लगो, लेकिन मैं तो, प्राण रहते ऐसा कदापि नहीं कर सकती। मैं, महाराजा भोजवृष्णि की पौत्री हूँ। मैं, अपनी प्रतिज्ञा पर, अन्त तक दृढ़ रहूँगी और अगंधन जाति के साँप की भांति, प्राणों का ममत्व अवश्य छोड़ दूँगी, लेकिन जिन भोगों को त्याग चुकी हूँ, उनमें कदापि प्रवृत्त न होऊँगी। यदि तुम, साक्षात इन्द्र के समान भी वैभव एवं प्रभाव शाली हो जाओ, तुम्हारा रूप वैश्रमण धनपति के समान भी हो और भोग-विलास में तुम नलकूबर के समान भी होओ, तब भी

मैं, अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकती। हे अपयशकामी रथनेमि! मैं तुम से भी यही कहती हूँ, कि तुम अपने कुल को कलंकित मत करो, विषय-भोग की इच्छा के आगे नत मस्तक होकर, गंधन जाति के साँप की तरह, उगले हुए को मत चूसो; किन्तु अगंधन जाति के साँप की तरह, यश की रक्षा करो। तुम कहते हो, कि भुक्त-भोगी होकर फिर जिन-मार्ग का आचरण करेंगे, परन्तु यह तुम्हारा भ्रम है। जो एक बार, जान बूझ कर पतन की ओर अग्रसर होता है, वह फिर पतित ही होता जाता है। इसलिए, काम क्रोध और राग-द्वेष त्याग कर, जो प्रतिज्ञा की है उसका पालन करो। यदि तुम, ग्राम नगर में विचरते हुए, स्त्रियों को देखकर इसी प्रकार के बुरे भाव लाते रहोगे; तो तुम्हारा पतन किसी दिन उसी प्रकार अवश्यम्भावी है, जिस प्रकार प्रबल पवन के लगने से, हरड़ का वृक्ष उखड़ कर गिर पड़ता है। तुम, अपने कृत्य पर पश्चाताप करो और छिपकर, या प्रकट में, प्रतिज्ञा के विरुद्ध कार्य करने की भावना भी न लाओ। ऐसा करने पर ही, अपना कल्याण कर सकोगे; अन्यथा संयम लेकर भी, संसार में बारबार जन्म-मरण करना पड़ेगा!

राजमती के इन उपदेश-पूर्ण वचनों को सुनते-सुनते, रथनेमि के हृदय का काम-विकार नष्ट हो गया। वे, राजमती के समस्त उपदेश को, ध्यान पूर्वक आद्योपान्त सुनते रहे। उस उपदेश से

वे, उसी प्रकार संयम में दृढ़ हो गये, जिस प्रकार अंकुश लगने से हाथी अपने स्थान पर आजाता है।

रथनेमि का मस्तक, राजमती के आगे लज्जा के मारे झुक गया। उनकी कामवासना, शान्त होगई। वे, राजमती से अपने व्यवहार के विषय में क्षमा मांगने लगे और कहने लगे, कि—हे सती, आपने मुझ पर बहुत उपकार किया। मैं, आपके इस उपकार को कदापि विस्मृत नहीं कर सकता। अपनी ओर से तो मैं पतित हो ही चुका था; परन्तु आपने मुझ पतित को भी पावन बना लिया; और यद्यपि मैं अपनी पूर्व की प्रतिज्ञाओं में दूषण लगा चुका हूँ, तथापि आज फिर प्रतिज्ञा करता हूँ, कि अब से मैं, कदापि किसी स्त्री पर मन न चलाऊँगा, किन्तु संयम में दृढ़ रहूँगा।

रथनेमि की प्रतिज्ञा सुनकर, राजमती ने उन्हें धन्यवाद दिया और कहा—रथनेमि, घबराओ मत। घबराने से कुछ न होगा। जो हुआ सो हुआ; अब भी, यदि तुम स्वयं के द्वारा की गई प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे, तो समस्त पूर्व-पाप से भी मुक्त हो सकोगे, तथा आत्म-कल्याण भी कर सकोगे। अब मैं तुमसे यही कहती हूँ, कि आज की इस प्रतिज्ञा को कभी विस्मृत मत होना, सदा याद रखना, और यदि प्रतिज्ञा में कभी कोई दूषण लग भी जावे, तो उसे दबाना, मत, किन्तु निन्दा गर्हा द्वारा प्रकट करके, शुद्ध होजाना।

रथनेमि ने, राजमती की यह बात स्वीकार की। राजमती,

गुफा से निकल कर पर्वत के शिखर पर जाने वाले मार्ग पर आई। वहां, उसकी शिष्याएँ बैठी हुई, उसकी प्रतीक्षा कर रही थीं। शिष्याओं से मिलकर राजमती ने, उनसे कुशल प्रश्न किया, और फिर सबके साथ शिखर पर चढ़ने लगी।

वियोगान्त

अनन्य प्रेम की महिमा, विचित्र है। इस प्रकार के प्रेम में, महान शक्ति होती है। ऐसा प्रेमी, अपने प्रेमास्पद को प्राप्त करके ही रहता है। किसी को चाहे कठोर बन्धन में डाल दिया जावे, त्रिलोक के राज्य का प्रलोभन दिया जावे, या मृत्यु-दण्ड दिया जावे, फिर भी यदि वह अनन्य प्रेमी है, तो अपने प्रेमास्पद को विस्मृत नहीं कर सकता; उससे प्रेम नहीं त्याग सकता; और उसके बदले, किसी दूसरे को प्रेमास्पद नहीं बना सकता। अनन्य प्रेमी, अपने प्रेमास्पद के लिए, संसार की कठिन से कठिन यातनाओं को भी हर्ष-पूर्वक सहता है, और महान से महान प्रलोभन को भी, घृणा-पूर्वक ठुकरा देता है। चाहे जैसा और चाहे जितना प्रयत्न किया जावे, वह, अपने प्रेमास्पद की तुलना में, संसार के किसी भी पदार्थ, या व्यक्ति को नहीं मानता।

अपने प्रेमास्पद के सामने, सब को तुच्छ समझता है। भ्रमर का पुष्प से अनन्य प्रेम होता है। भ्रमर का, पुष्प के प्रति जो अनन्य-प्रेम है, उसे मिटाने के लिए, चाहे कोई उसे पुष्प से भी अधिक सुगन्धित तथा कोमल पदार्थ दे, लेकिन वह उस पदार्थ को तुच्छ समझकर, उसकी अवहेलना ही करेगा, उस पर मुग्ध होकर, पुष्प के प्रति जो अनन्य-प्रेम है, उसे कदापि न त्यागेगा। इसी प्रकार, चाहे कोई उसे कठोर से कठोर बन्धन में डाल दे, या उसे मार भी डाले, तब भी उसके पुष्प-प्रेम में, किंचित् भी न्यूनता न होगी। अनन्य-प्रेमी, अपने प्रेमास्पद के दोष भी नहीं देखता। प्रेमास्पद चाहे उसे ठुकराता भी रहे—उसकी उपेक्षा भी करे, उससे प्रेम न भी करे—तब भी, अनन्य प्रेमी के हृदय में, उसके प्रति वैसा ही प्रेम रहता है!

अनन्य प्रेम के विषय में, अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। रावण ने, सीता को खूब भय दिखाया और खूब प्रलोभन भी दिया, लेकिन सीता के हृदय से, राम का प्रेम कम न हुआ। रुक्मिणी को, अनेक प्रकार के कष्ट दिये गये और अत्यधिक प्रलोभन भी दिये गये, लेकिन रुक्मिणी का कृष्ण-प्रेम अडिग ही रहा; यह, अनन्य प्रेम की ही महिमा थी। अनन्य प्रेम न होने पर, थोड़ा सा भय या प्रलोभन, प्रेमी को प्रेमास्पद की ओर से विमुख कर सकता है; लेकिन अनन्य प्रेम को, कोई कभी नहीं मिटा सकता।

वह प्रेम, जिसमें केवल विषय-भोग की ही लालसा है, अनन्य प्रेम नहीं हो सकता। विषय-जन्य प्रेम, विषय-सुख के अभाव में नष्ट हो जाता है, या दूसरी ओर पलट जाता है; अनन्य प्रेम नहीं रहता। अनन्य प्रेम तो, चाहे प्रेमास्पद की ओर से सुख मिले या दुःख, किसी दूसरे की ओर से प्रेमास्पद द्वारा होनेवाले सुख की अपेक्षा सहस्र लक्ष गुणा सुख भी मिलता हो, या घोर आपत्ति में भी डाला जा रहा हो, किसी भी दशा में, नष्ट या न्यून नहीं होता। विषय-सुख के लिए किये गये प्रेम में यह बात नहीं हो सकती। वह प्रेम तो, घटता भी है और नष्ट भी हो जाता है। ऐसा प्रेम, वेश्या के प्रेम-सा होता है, जिसका होना भी, न होना ही है।

राजमती के हृदय में, भगवान अरिष्टनेमि का अनन्य प्रेम था। उसका यह अनन्य प्रेम, केवल इसी भव से नहीं था, किन्तु आठ भव पूर्व से था। यदि राजमती, विषय-सुख की लालसा से ही भगवान से प्रेम करती, तब तो भगवान के लौट जाने पर, उसका प्रेम भी टूट जाता और वह किसी दूसरे को अपना प्रेमास्पद बना लेती, लेकिन उसने, माता-पिता और रथनेमि द्वारा किये गये विवाह के प्रस्ताव को, घृणा की ही दृष्टि से देखा। इससे स्पष्ट है, कि राजमती, भगवान अरिष्टनेमि से, केवल विषय-सुख की लालसा से ही प्रेम नहीं करती थी, किन्तु उसका स्वाभाविक अनन्य प्रेम था। पति से अनन्य प्रेम करनेवाली कुलांगनाएं, विषय-सुख के लिए ही

पति से प्रेम नहीं करती हैं, किन्तु उनमें, पति के प्रति सहज प्रेम होता है और इसी कारण वह प्रेम, अनन्य प्रेम की सीमा तक पहुँचता है।

राजमती, अपने प्रेमास्पद भगवान अरिष्टनेमि का ही अनुसरण करती रही। जब तक भगवान कुमार रहे, तब तक वह भी कुमारी रही, भगवान राजमती के द्वार से लौट कर जब तक घर रहे, तब तक वह भी घर रही, और जब भगवान ने संयम लिया, तब उसने भी संयम लिया, तथा जिस पद की आराधना भगवान करते थे, उसी पद की आराधना वह भी करने लगी। जिस मोक्ष-पद को प्राप्त करने के लिए भगवान प्रयत्नशील थे, उसी के लिए राजमती भी प्रयत्नशील थी। इस प्रकार भगवान का पदानुगमन करती हुई राजमती, भगवान का दर्शन करने के लिए, भगवान की सेवा में उपस्थित हुई! उसको, यह विचार कर प्रसन्नता थी, कि आज मुझे भगवान, मेरे प्रेम के विषय में किसी प्रकार का उपालम्भ नहीं दे सकते। यदि मैंने इनका पदानुसरण न किया होता, तो मुझे आज भगवान को मुंह दिखाने में भी सङ्कोच होता, तथा भगवान भी, मुझ से यह कह सकते थे, कि यदि तेरे में मेरे प्रति प्रेम होता, तो तू मेरा अनुगमन करती! लेकिन मैंने, अपने कर्तव्य का पालन किया है, इसलिए मुझे, किसी प्रकार का भय या सङ्कोच नहीं हो सकता।

इस प्रकार के विचारों से प्रसन्न राजमती, चिरअभिलषित भगवान अरिष्टनेमि का दर्शन करके, बहुत हर्षित हुई। उसका रोम-रोम, विकसित हो उठा। उसने अपनी शिष्याओं सहित, भगवान को विधि - पूर्वक वन्दन नमस्कार किया, और फिर प्रार्थना करने लगी, कि—हे प्रभो, मुझ पर पूर्व के आठ भव में आपकी जो कृपा रही है, आपने इस भव में, मुझ पर उससे भी अधिक कृपा की है। उन आठ भव के प्रेम के मध्य तो, वियोगादि के अनेक कष्ट सहने पड़े हैं, वैसे प्रेम के रहने पर तो, जन्म-मरण का कष्ट भोगना ही पड़ता है, इसलिए आपने इस भव को, अपना पूर्व-प्रेम सुदृढ़ और ध्रुव बनाने में लगा दिया है। आपका यह कार्य, जब तक मेरी समझ में नहीं आया था, तब तक तो मैं दुःखित रही, परन्तु जब मुझे आपके कार्य का महत्व मालूम हो गया, तब मेरे को अत्यधिक प्रसन्नता हुई, और मैंने भी, अपने प्रेम को अविचल बनाने के लिए वही मार्ग अपनाया, जिसे आपने अपनाया है; तथा जिसको अपनाने के लिए, आपने मुझे, द्वार तक पधार कर सूचना दी थी। प्रभो, अब आप कृपा करके मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे मेरा मार्ग सुगम बने, और मैं उस स्थान को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर सकूं, जहां पहुँचने पर, अपना प्रेम सदा के लिए स्थायी बन जावेगा।

राजमती की प्रार्थना सुनकर, भगवान ने कहा-सती राजमती,

तुमने जिस संयम मार्ग को अपनाया है, उस पर दृढ़ रहना, उसमें प्रमाद न करना, यही उस स्थान-मोक्ष-को प्राप्त करने का उपाय है। मैं जानता हूँ, कि तुम संयम की आराधना भली प्रकार कर रही हो, तथा आगे भी करोगी, और तुम कब मोक्ष प्राप्त करोगी, यह भी मैं जानता हूँ, फिर भी तुम्हारे पूछने पर, मैंने, तुम्हें संयम मार्ग पर दृढ़ रहने की जो सावधानी दी है, वह, दूसरे लोगों के लिए हितकर होगी; इस दृष्टि से दी है।

भगवान की वाणी सुनकर, राजमती, गद्‌गद् हो गई। उसके नेत्र, भगवान के दर्शन की ओर से अतृप्त ही बने रहे। राजमती, केवल भगवान की वाणी सुनकर, या उनका दर्शन करके ही नहीं रही, किन्तु उसने संयम तथा तप की अच्छी तरह आराधना की। तप संयम की आराधना से, राजमती को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ। अन्त में राजमती, भगवान श्री अरिष्टनेमि से ५४ दिन पहले मोक्ष प्राप्त करके सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गई।

उपसंहार

यह कथा, विशेषतः हिंसा और विषय-भोग के त्याग का आदर्श सामने रखती है। इसमें बताया गया है, कि भगवान् अरिष्टनेमि ने, हिंसा और विषय-भोग के त्याग की कैसी उत्तम शिक्षा दी है; और ऐसा करने के लिए उन्होंने क्या क्या किया था। यदि उन्हें, स्वयं का ही कल्याण अभीष्ट होता, तो वे, प्रत्यक्षज्ञान के स्वामी थे, अतः ध्यान, मौन और तपादि द्वारा सहज रीति से ही आत्म-कल्याण कर सकते थे; लेकिन तीर्थंकरके जन्म लेने का उद्देश्य, संसार के सामने कोई विशेष आदर्श रखना होता है। भगवान् अरिष्टनेमि ने, संसार के सन्मुख अहिंसा-दया-का उत्कृष्ट आदर्श रखा, और यह आदर्श रखने के लिए उन्होंने, अनुपम त्याग भी किया। भगवान् अरिष्टनेमि ने, संसार के सामने जो आदर्श रखा, उस आदर्श के रखने में उन्होंने

ज्ञानादि विशेषता की सहायता नहीं ली। यदि वे अपनी विशेष शक्ति का उपयोग करते, तो अहिंसा और विषय-सुख के त्याग का महत्व, कम हो जाता। लोग कहते, कि-भगवान् अरिष्टनेमि असाधारण पुरुष हैं, हम साधारण लोग उनका अनुकरण नहीं कर सकते, इसलिए अहिंसा और संसार से, वैराग्य होना, असाधारण पुरुष के लिए ही संभव है। जनता में, इस तरह का विचार फैलने पर, भगवान् द्वारा रखे गये अहिंसा और वैराग्य के आदर्श से, जनता, पूर्णरीत्या लाभ न ले सकती। इसीलिए भगवान् ने वही मार्ग ग्रहण किया, जो साधारण पुरुष के लिए भी असाध्य नहीं है, और जिसके द्वारा एक कुशल उपदेशक, लोगों पर अपने उपदेश का प्रभाव भी डाल सकता है।

यह कथा, सती राजमती की तो है ही, इसलिए उसके चरित्र में विशेषता होना स्वाभाविक ही है। राजमती ने, अपने चरित्र द्वारा संसार की स्त्रियों को यह शिक्षा दी है, कि तुम जिससे प्रेम करो, उससे अनन्य प्रेम करो, केवल दिखावटी प्रेम मत करो। अपने प्रेमास्पद के सामने, संसार के अन्य पुरुषों को पुरुष ही मत समझो, और अपने प्रेमी के लिए, सब कुछ त्याग दो। साथ ही, यह भी शिक्षा दी है, कि संकुचित और अपवित्र प्रेम की अपेक्षा, विशाल और पवित्र प्रेम को विशेषता दो। पति से, केवल सांसारिक भोग भोगने के लिए ही प्रेम मत करो, किन्तु

पति के उचित कार्य का अनुकरण करने के लिए प्रेम करो; फिर चाहे ऐसा करने में, तुम्हें सांसारिक भोग-विलास को तिलांजलि ही क्यों न देनी पड़े। कोई दूसरा पुरुष, किसी स्त्री का सतीत्व हरण करना चाहे, तो उस समय उस स्त्री का क्या कर्तव्य है, इसके लिए भी राजमती का चरित्र मार्ग-दर्शक है। उसने, रथनेमि को दो बार उपदेश देकर, अपने शील की रक्षा की थी, और अन्तिम बार तो एकान्त का ऐसा विषम अवसर था, कि जहां पुरुष से स्त्री के लिए, अपने शील की रक्षा करना महान् कठिन था। लेकिन उस समय भी राजमती ने, शील-रक्षा की ओर से अपना साहस नहीं त्यागा। पहले तो उसने उस आसन का उपयोग किया था, जो पुरुष से रक्षा करने में समर्थ था; लेकिन इसके आगे उसने, अगंधन साँप का उदाहरण देकर यह भी स्पष्ट कर दिया था, कि मैं अगंधन सांप की तरह मरना श्रेष्ठ समझूंगी, परन्तु उगले हुए, यानी त्यागे हुए, विषय-भोग को फिर स्वीकार न करूंगी।

राजमती का चरित्र, पतिप्रेम, धैर्य, दृढ़ता, त्याग, ब्रह्मचर्य और तप का अप्रतिम आदर्श है। भगवान् अरिष्टनेमि और सती राजमती के चरित्र जैसा आदर्श से भरा हुआ, दूसरा चरित्र, संसार में मिलना बहुत कठिन है। इन दोनों का प्रत्येक कार्य आदर्श था। इनकी नव-भव की वह प्रीति, जो आगे चलकर अक्षय बन गई, दूसरे किसी चरित्र में नहीं मिल सकती।

भगवान् अरिष्टनेमि का चरित्र, उपदेश देनेवाले लोगों के लिए भी, बहुत शिक्षा देने वाला है। बहुत से लोग, थोथा उपदेश देने के लिए खड़े हो जाते हैं, उस उपदेश के पीछे क्रियात्मक आदर्श नहीं रखते; और उपदेश को केवल श्रोताओं के लिए ही आचरणीय मानते हैं, स्वयं के लिए नहीं। ऐसे लोगों को, भगवान् अरिष्टनेमि ने अपने चरित्र से स्पष्ट बता दिया है, कि उपदेश को सफल बनाने के लिए, उपदेशक को जनता के सामने, उपदेश से भी उच्च आदर्श रखना चाहिए; और उपदेशक को तभी उपदेश देना चाहिए, जब वह उपदेश की-या उससे ऊंची-बातों का आचरण स्वयं भी करता हो। उपदेश के साथ, जब तक त्याग का बल न होगा, तब तक उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ सकता।

सती राजमती और भगवान् अरिष्टनेमि के चरित्र को, अपने जीवन में उतारनेवाले स्त्री पुरुष, सांसारिक जीवन भी सुख-पूर्वक व्यतीत करेंगे और उन्हें परलोक में भी सुख प्राप्त होगा। बल्कि, कभी न कभी जन्ममरण के चक्कर से छूट, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनकर अक्षय सुख प्राप्त करेंगे॥

मण्डल द्वारा प्राप्य पुस्तकें

पुस्तक	मूल्य
अहिंसा व्रत	।)
सकडाल पुत्र	=)
धर्मव्याख्या	=)
सत्यव्रत	≡)
हरिश्चन्द्र तारा	॥)
अस्तेय व्रत	=)
सुबाहु कुमार	।)
ब्रह्मचर्य व्रत	=)
सनाथअनाथनिर्णय	=)
रुक्मिणी-विवाह	।)
राजमती	≡)
वैधव्य दीक्षा	-)
सद्धर्म मण्डन	१।≡)
अनुकम्पा विचार	।)
सचित्र अनुकम्पा-विचार	१॥)
पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज का जीवन चरित्र	॥)
शालिभद्र चरित्र	।≡)
मिल के वस्त्र और जैनधर्म	-)
जैनधर्म में मातृ-पितृ सेवा	-)
मुनिश्री गजसुकुमार	-)॥
स्मृति श्लोक संग्रह	।-)
श्री नन्दी सूत्र	≡)
जैनधर्म शिक्षावली सातवां भाग	।=)
तीर्थङ्करचरित्र प्रथम भाग	।)
,, दूसरा भाग	।=)
धार्मिक परीक्षा बोर्ड की साधारण परीक्षा की पाठ्य पुस्तक	=)
उत्तराध्ययनसूत्र हिन्दी	१)

मिलने का पता—

श्री साधुमार्गी जैन हितेच्छु श्रावक-मण्डल,

रतलाम (मालवा)